एम.ए. (उत्तरार्द्ध) **SEMESTER-III** संस्कृत

301 - भाग-क-1

संस्कृत भाषा का वैज्ञानिक विश्लेषण

मुक्त शिक्षा विद्यालय

(मुक्त शिक्षा परिसर)

दिल्ली विश्वविद्यालय

संस्कृत - विभाग

सम्पादक : डॉ. रघुनाथ शर्मा

स्नातकोत्तर पाठ्यक्रम

भाषा विज्ञान

अनुक्रमः

मुक्त शिक्षा विद्यालय

दिल्ली विश्वविद्यालय

5, कैवेलरी लेन, दिल्ली-110007

पाठ-1

भाषा का स्वरूप

डॉ. सूर्यकान्त बाली

1. भाषा की परिभाषा

प्रकृति का यह एक विचित्र संयोग है कि जो वस्तु या व्यक्ति हमारे बहुत अधिक निकट होता है उस ओर हमारा ध्यान प्राय: नहीं जाता या बहुत ही कम जाता है। प्रत्येक मनुष्य चौबीस घंटे सांस लेता रहता है, पर उसकी ओर उसका ध्यान प्राय: नहीं जाता, यद्यपि जन्म लेते ही हमारा उसके (श्वास के) साथ अटूट सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। यही स्थिति भाषा और उसके प्रयोग की भी है। ध्यान दिलाए जाने पर ही हमारी उसके विषय में विचार करने की प्रवृत्ति होती है। जीवन में क्रमश: बोली एवं विचार दोनों स्तरों पर ही भाषा के साथ हमारा सम्पर्क बढ़ता ही जाता है। यहां तक कि हम न केवल अपनी भाषा में अनाप शनाप बोला करते हैं अपितु स्वप्न में भी हम भाषा का प्रयोग कर रहे होते हैं। परन्तु यह भी प्रकृति का एक आश्चर्य ही कहा जाना चाहिए कि भाषा जितना हमारे निकट है हम उतना ही कम उसके बारे में विचार करने का अवसर निकाल पाते हैं। नगरों, गांवों और जंगलों में करोड़ों लोग अपनी अपनी भाषा का प्रयोग करते हैं, पर उसके सम्बन्ध में शायद ही कभी कोई विचार करता होगा। भाषाविद् इस दृष्टि से अपवाद की कोटि में आते हैं।

भाषा विज्ञान में भाषा का वैज्ञानिक दृष्टि से अध्ययन किया जाता है। इसलिए यह स्वाभाविक ही है कि भाषा के वैज्ञानिक अध्ययन की प्रक्रिया में हमारे सामने पहला प्रश्न भाषा की परिभाषा के सम्बन्ध में ही हो। प्रश्न उठता है कि भाषा क्या है? सामान्यत: इसका यह उत्तर दिया जा सकता है कि प्राणियों के परस्पर विचार विनिमय के साधन का नाम भाषा है। अर्थात् जिस माध्यम से हम अपने विचार एक-दूसरे तक पहुंचा सकें उसका नाम भाषा है। विचार से तात्पर्य यहां अवश्य ही किसी गम्भीर समस्या से नहीं है अपितु हमारे मन, हृदय और बुद्धि की प्रत्येक उस इच्छा या भाव से है जो हम व्यक्त करना चाहते हैं। इस प्रकार अपने विचार, भाव अथवा इच्छा को हम जिस माध्यम से दूसरे तक सफलतापूर्वक व्यक्त करते हैं या कर सकते हैं, उस माध्यम का नाम भाषा है।

यदि भाषा के इस सामान्य स्वरूप पर विचार किया जाए तो भाषा की एक बड़ी ही व्यापक परिभाषा हमारे सामने आती है। कारण यह है कि हम अपने विचारों आदि की अभिव्यक्ति केवल बोलचाल के माध्यम से ही नहीं करते। ऐसे अन्य अनेक माध्यम भी हैं जिनकी सहायता से हम अपने विचारों आदि को अभिव्यक्त करते हैं। कई बार मुंह से खांसने एवं इसी तरह की अन्य ध्वनियों से अपने आगमन आदि की सूचना सफलतापूर्वक दे दी जाती है। कई बार मन के भाव बिना किसी प्रकार की व्यक्त या अव्यक्त ध्वनि निकाले ही चेहरे के द्वारा सफलतापूर्वक अभिव्यक्त कर दिए जाते हैं। उदाहरणतया, घर में आए अतिथि के स्वागत अस्वागत के भाव हम अपने मूक चेहरे द्वारा ही पहुंचा दिया करते हैं। हाथ मिलाने के ढंग, देखने के प्रकार, हंसने के तरीकों से भी हमारे मन की प्रशंसा, तिरस्कार, सम्मान, उपेक्षा, उपहास आदि मनोभावों के विशिष्ट तथा निश्चित आकार प्रकार भी निश्चित रूप में व्यक्त हो जाते हैं। उदाहरणतया, सड़क पर भागती हुई गाड़ियों के लिए लाल और हरे रंग बहुत सार्थक हैं। अपनी अपनी गाड़ी पर बैठा प्रत्येक चालक दूसरी गाड़ी में बैठे चालक से या पैदल चल रहे व्यक्ति से कुछ निश्चित संकेतों की सार्थक सहायता से आवश्यक निर्देश-विनिमय कर ही लेता है, भाव विनियम के इन माध्यमों में और भी माध्यम जोड़े जा सकते हैं।

यद्यपि उपर्युक्त अनेक माध्यमों से हम अपने जीवन में और समाज में आवश्यक विचारों, संकेतों और निर्देशों का विनिमय कर लेते हैं, तथापि इन सभी प्रकार के माध्यमों से हम भाषा को उस परिभाषा में बांधने के लिए सहसा तैयार नहीं हो पाते जो परिभाषा हमारे अवचेतन में सामान्य रूप से बनी रहती है और उस परिभाषा का सम्बन्ध कहीं न कहीं ध्वनि-प्रक्रिया से रहता है। यद्यपि उपर्युक्त सभी विविध माध्यमों से हम सफलतापूर्वक विचार आदि का विनियम कर लेते हैं तथापि भाषा के स्वरूप निर्धारण में इनका महत्त्व सीमित ही है। यदि इन सभी माध्यमों को भाषा की परिभाषा के अंतर्गत मान लिया जाए तो भाषा की परिभाषा बहुत ही व्यापक परिप्रेक्ष्य में इस प्रकार होगी–भाषा विचारों के विनियम के माध्यम का नाम है। पर स्पष्टत:

भाषा की यह परिभाषा हमें मान्य नहीं हो सकती क्योंकि इस परिभाषा वाली भाषा का अध्ययन भाषा-विज्ञान से नहीं हो सकता है। अतः भाषा विज्ञान की दृष्टि से भाषा की ठीक, उचित और स्पष्ट परिभाषा की आवश्यकता बनी रहती है।

एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटानिका में भाषा की परिभाषा इस प्रकार दी गई है - ''भाषा की परिभाषा ध्वनिप्रतीकों की उस यादृच्छिक व्यवस्था के रूप में की जा सकती है जिसकी सहायता से सामाजिक वर्गों के सदस्य और संस्कृति के भागीदार के रूप में मनुष्य परस्पर सक्रिय रहते हैं और विचारप्रेक्षण करते हैं।'' इस महत्त्वपूर्ण परिभाषा में निम्नलिखित तत्त्वों के समावेश का प्रयास किया गया है: (1) भाषा ध्वनि प्रतीकों की यादृच्छिक व्यवस्था है, 2. इसका उपयोग मनुष्यों द्वारा होता है, 3. यह सामाजिक व्यवहार की वस्तु है, 4. इससे सांस्कृतिक आदान-प्रदान का कार्य होता है, 5. यह विचारप्रेक्षण का साधन है। भाषावैज्ञानिक स्वीट ने भाषा की परिभाषा इस प्रकार दी है-'ध्वन्यात्मक शब्दों द्वारा विचारों को व्यक्त करना ही भाषा है।' यह परिभाषा प्लेटो के विचारों पर आधारित प्रतीत होती है जिनका विचार था कि मनुष्य के ध्वन्यात्मक विचार भाषा हैं और अध्वन्यात्मक भाषा विचार हैं। इन परिभाषाओं में भाषा के गठन पक्ष की ओर अधिक ध्यान दिया गया है। और उसी के आधार पर भाषा को परिभाषित करने का प्रयास किया गया है। इसी बात को लगातार दोहराते हुए ए.ए. कार्डीनर ने कहा है कि ''प्राय: विचारों की अभिव्यक्ति के लिए प्रयुक्त स्पष्ट ध्वनि प्रतीकों को भाषा कह दिया जाता है।'' अपने ग्रन्थ भाषारहस्य में डॉ॰ श्यामसुन्दर दास का कहना है-''मनुष्य मनुष्य के बीच वस्तुओं के विषय में अपनी इच्छा और मति का आदान-प्रदान करने के लिए व्यक्त ध्वनिसंकेतों का जो व्यवहार होता है, उसे भाषा कहते हैं।''

भाषा के सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों द्वारा व्यक्त किये गये इन मतों का विश्लेषण कर कुछ निश्चित निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं-1. भाषा के सम्बन्ध में एक सर्वमान्य धारणा यही प्रतीत होती है कि वह विचार को व्यक्त करने का माध्यम है; 2. इस प्रकार का माध्यम ध्वनिसंकेतों द्वारा रूपायित होता है; 3. ये ध्वनिसंकेत मानवशरीर की ध्वनिप्रणाली से उत्पन्न हुए होते हैं; 4. इस भाषा के माध्यम से मनुष्य सामाजिक स्तर पर अपना कार्यव्यापार करता है।

यदि हम इन विशेषताओं की तुलना अपने पूर्ववर्ती विचारों से करें तो भाषा के सम्बन्ध में हम अपनी पूर्ववर्ती परिभाषा को थोड़ा विस्तृत करते हुए कह सकते हैं कि-''मनुष्यों द्वारा अपने ध्वनिसंकेतों की सहायता से किए जाने वाले विचारों के विनिमय के माध्यम का नाम भाषा है।'' दूसरे शब्दों में, भाषा की व्यापक परिभाषा की परिधि सीमित करते हुए यहां एक बात जोड़ दी गई है कि विचार विनिमय का माध्यम मनुष्य के ध्वनिसंकेतों से युक्त होने चाहिए।

यहां प्रश्न यह उठ सकता है कि जब हम अनेक प्रकार के माध्यमों से सामाजिक स्तर पर विचार विनिमय कर सकते हैं तो उस माध्यम को ध्वनिसंकेतों में परिसीमित करने की क्या आवश्यकता है? क्यों न भाषा की परिभाषा को व्यापक ही रहने दिया जाए? इस प्रश्न का उत्तर भाषा की सामाजिक आवश्यकता में ही निहित है। यदि समाज की आवश्यकता का सामाजिक परिप्रेक्ष्य में विवेचन कर देखा जाए तो यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि मनुष्य को जब यह प्रतीत होने लगा कि केवल शारीरिक चेष्टाओं, संकेतों एवं चिन्हों से प्रत्येक बात की शीघ्रतापूर्वक और सटीक ढंग से अभिव्यक्ति नहीं हो सकती तो उसकी इस आवश्यकता ने भाषा को जन्म दिया। इसमें ध्वनिसंकेतों की अनिवार्यता स्वयंसिद्ध है। ध्वनिसंकेत विचार विनिमय में लघुता और निश्चयात्मकता लाते हैं। भाषा के इसी वैशिष्ट्य की ओर स्पष्ट संकेत करते हुए प्राचीन भारतीय भाषाविद् औदुम्बरायण ने कहा है-''अणीयस्त्वाच्च शब्देन संज्ञाकरणं व्यवहारार्थं लोके।'' इस मत को निरुक्तकार यास्क ने उद्धृत किया है। उसका अभिप्रेत स्पष्ट है। समाज में लघु व्यवहार के लिए शब्द के द्वारा नामकरण किया जाता है। यदि ऐसा न होता तो निश्चित रूप से समाज का व्यवहार चिन्तन के सूक्ष्म स्तर तक कभी पहुंच न पाता और मनुष्य समाज पशुसमाज के समान केवल खान-पान, मैथुन तक सीमित रहता।

उपर्युक्त सम्पूर्ण विवेचन के आधार पर भाषा की एक स्पष्ट तर्क-सम्मत परिभाषा हमारे सामने निष्कर्ष के रूप में आती है-'मनुष्यों द्वारा ध्वनिसंकेतों की सहायता से किए जाने वाले विचारों के विनिमय के माध्यम का नाम भाषा है।' उसमें भाषा का विचार-विनिमय की वाहिका होना और उसका ध्वनिसंकेतों से युक्त होना ये दो तत्व समाहित हैं। इन दोनों तत्वों की आवश्यकता और तर्कसंगत होने का विस्तृत विवेचन ऊपर हुआ है।

यद्यपि भाषा की उपर्युक्त परिभाषा अपने आप में पूर्ण और पर्याप्त कही जा सकती है, पर भाषा विज्ञान में अध्ययन की जा सकने वाली भाषा की परिभाषा के लिए अभी और अधिक चिन्तन की आवश्यकता है। समाज में हम भाषा का मात्र प्रयोग करते हैं, उसके विवेचन की ओर हमारी प्रवृत्ति नहीं होती जबकि भाषाविज्ञान में हम प्रयुज्यमान अर्थात् प्रयोग की जाती हुई भाषा

का विश्लेषण भी करते हैं। इसी आधार पर भाषा विज्ञान की विषयभूत भाषा की परिभाषा का विचार आवश्यक है और वह यह कि जहां भाषा में 1. ध्वनिसंकेतों से युक्त होना और 2. उसका विचार-विनिमय का साधन होना-इन दो तत्वों की अनिवार्यता है वहां इसमें विश्लेषण एवं विवेचन की क्षमता से युक्त होना, इस तीसरे तत्त्व की भी अनिवार्यता है। भाषाविज्ञान भाषा का विश्लेषण करता है और यदि कोई ध्वनिसंकेत विचार-विनियम में सक्षम होते हुए भी विवेचन की परिधि में नहीं आता है तो वह इस भाषा की परिधि में नहीं आयेगा। उदाहरणतया खांसना एक ध्वनिसंकेत है जो विशिष्ट परिस्थितियों में आगमन की सूचना के लिए प्रयुक्त होता है। उसी प्रकार रोना, हंसना, सीटी बजाना भी सप्रयोजन ध्वनिसंकेत के रूप में अपनाए जाते हैं। पर ये ध्वनिसंकेत भाषाविज्ञान के विवेचन का विषय नही बन पाते हैं, अत: इन्हें भाषा की परिभाषा में रखना कठिन है।

इसी प्रकार ध्वनिसंकेतों के सम्बन्ध में एक और तत्त्व भी अनिवार्य है, जिसका सामान्य संकेत ऊपर भी हुआ है। भाषा के अन्तर्गत केवल वे ही ध्वनिसंकेत समाविष्ट होते हैं जो मनुष्य के शरीर के ध्वनि तन्तुओं से उत्पन्न होते हैं। इस आधार पर मनुष्यों के ताली बजाने जैसे ध्वनिसंकेतों और पशुओं के द्वारा प्रयुक्त ध्वनिसंकेत भाषाविज्ञान सम्मत भाषा की परिभाषा से बाहर रह जाते हैं।

निष्कर्षस्वरूप, भाषाविज्ञान में भाषा की परिभाषा इस प्रकार की जाती है–'मनुष्य द्वारा विचार-विनिमय के लिए प्रयुक्त विश्लेषण योग्य ध्वनिसंकेतों की व्यवस्था को भाषा कहा जाता है।'

2. भाषा का गठन

भाषा की भाषाविज्ञान सम्मत परिभाषा निश्चित कर लेने के पश्चात् भाषा के गठन का विचार पर्याप्त महत्वपूर्ण होने पर भी विशेष कठिन नहीं रह जाता। भाषा की परिभाषा में भाषा के ध्वनि, अर्थ और विश्लेषण क्षमता–इन तीन पक्षों पर बल दिया गया था। भाषा के दूसरे अर्थात् गठन पक्ष पर विचार करते समय ध्वनि और अर्थ इन तत्वों का महत्व तो समान रूप से बना रहता है, परन्तु उसकी विश्लेषणयोग्यता का महत्व सीमित हो जाता है। इसका कारण यह है कि भाषा की परिभाषा करने के उपरान्त भाषा के सम्बन्ध में किसी भी प्रकार का विवेचन भाषाविज्ञान के अध्ययन का क्षेत्र बन जाता है जिसके अन्तर्गत भाषा के विश्लेषणयोग्यता नामक परीक्षण के अन्तर्गत आने वाले इस तत्व को वहीं छोड़कर शेष तत्वों पर विचार-विमर्श करना प्रारम्भ कर देते हैं।

जब हम भाषा के गठन के प्रश्न पर विचार करते हैं तो हमारा परिचय चार तत्वों से होता है–ध्वनि, अर्थ, पद और वाक्य। भाषा का गठन इन चारों तत्वों की सहायता से होता है जिनका संक्षिप्त विवेचन करना आवश्यक है। सबसे पहले ध्वनि तत्व पर विचार किया जाए। भाषा के गठन में इसका स्थान मूलभूत और सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। इसका कारण यह है कि जिसे हम भाषा के नाम से जानते हैं उसका प्रारम्भ मनुष्य के मुख से निकलने वाली ध्वनि से होता है। अगर हम ध्वनि का उच्चारण ही नहीं करेंगे तो विचार-विनिमय की साधन मूल भाषा को कोई आकार ही मिलना असम्भव हो जाएगा। यद्यपि हम प्राय: मन-ही-मन अनुच्चारित भाषा को माध्यम बनाकर स्वयं से ही विचार-विमर्श करते रहते हैं, पर वैज्ञानिक दृष्टि से जैसा कि प्लेटो ने भी कहा है, हम उस प्रक्रिया को विचार तो कह सकते हैं, पर उसे भाषा कहना कठिन है। भाषा के लिए उसका ध्वनियुक्त होना एक अपरिहार्य तत्व है। इसलिए यह नि:संकोच कहा जा सकता है कि जहां ध्वनि के उच्चारण से ही भाषा का प्रारम्भ होता है, वहां भाषा को भौतिक आकार भी ध्वनि द्वारा ही मिलता है। आधुनिक अमेरिकन भाषावैज्ञानिकों ने भाषाई गठन के इस पक्ष को इतना अधिक महत्त्व दिया है कि वे इसके सामने अर्थ का कोई महत्त्व ही नहीं समझते। पर इस दृष्टिकोण को अतिवादी ही कहा जायगा, क्योंकि यदि ध्वनियाँ सार्थक नहीं होतीं तो वे भाषा के गठन में सहायक सिद्ध हो ही नहीं सकती। पर अर्थ को उचित महत्व देते हुए भी यह मानना पड़ेगा कि अर्थ की अपेक्षा ध्वनि का स्थान भाषा के गठन में अधिक मूलभुत है क्योंकि ध्वनि के उच्चारण के बाद ही अर्थ का कार्य शुरू होता है। भारत के प्राचीन भाषावैज्ञानिकों ने भाषा के गठन में ध्वनि के इस महत्व को स्वीकार किया था और ध्वनि का विशिष्ट वैज्ञानिक अध्ययन किया था। अत्यन्त प्राचीन काव्य में शिक्षा और प्रातिशाख्य ग्रन्थ एकान्त रूप से ध्वनि की शिक्षा देते थे और ध्वनि का ही विवेचन करते थे। संस्कृत व्याकरण में सन्धि-विवेचन सदृश प्रकरण अर्थ को विस्मृत करके केवल ध्वनि के विशिष्ट अध्ययन के आधार पर ही लिखे गए हैं। इस अध्ययन का एक विशेष पहलू यह भी है कि भारतीय भाषाविदों ने न केवल ध्वनि का अध्ययन किया है अपितु भाषा में ध्वनि के शुद्ध प्रयोग पर भी बहुत अधिक बल दिया है।

भाषा के गठन में दूसरा महत्त्वपूर्ण स्थान अर्थ का है। जहां ध्वनि का सम्बन्ध शरीर के ध्वनितन्त्र से है वहां अर्थ का सम्बन्ध हमारे मन और मस्तिष्क के साथ ही है। इसलिए कहा जा सकता है कि जहां ध्वनि भाषा के बाह्य आकार की रचना करती है वहां अर्थ की सहायता से भाषा के अन्तस्तत्व का निर्माण होता है। इस आधार पर भाषा के गठन के प्रश्न को लेकर एक महत्वपूर्ण निष्कर्ष यह निकल आता है कि जहां भाषा के ध्वनिपक्ष को लेकर उसका वैज्ञानिक विवेचन किया जा सकता है और इस सम्बन्ध में निश्चित ध्वनिनियम बनाये जा सकते हैं, वहां अर्थ के विषय में यह समस्या बनी रहती है कि क्या इसका वैज्ञानिक अध्ययन सम्भव है ? और इसलिए भाषा के कोई निश्चित अर्थनियम भी नहीं बन सकते। इसका कारण स्पष्ट है। मनुष्य के ध्वनितन्तु निश्चित हैं और उसकी ध्वनिप्रणाली लगभग तय है इसलिए उनकी सहायता से निकलने वाली ध्वनियों का वैज्ञानिक अध्ययन होना सम्भव है और इस अध्ययन के आधार पर निष्कर्ष भी निकाले जा सकते हैं। पर चूंकि अर्थ का सम्बन्ध मनुष्य के मन और इच्छा के साथ है जिसके बारे में निश्चित रूप से कुछ भी कहना कठिन है कि उसकी दिशा अथवा प्रणाली क्या रहेगी, इसलिए अर्थ का वैज्ञानिक विवेचन भी सरल नहीं रह जाता।

पर केवल इसी आधार पर भाषा के गठन में अर्थ का महत्व कम नहीं हो जाता और न ही उसकी उपयोगिता सीमित हो जाती है। इसके विपरीत अपनी सभी वैज्ञानिक अनिश्चितताओं के रहते हुए भी भाषा के गठन में अर्थ का वही महत्व है जो ध्वनि का है। ऊपर कहा ही जा चुका है कि अर्थ से रहित ध्वनियां भाषा नहीं मानी जातीं। इससे भाषा का आकार ग्रहण करने के लिए ध्वनियों की अर्थ पर निर्भरता स्पष्ट हो जाती है।

ध्वनि और अर्थ के बाद भाषा के गठन में तीसरा महत्वपूर्ण तत्व पद के नाम से जाना जाता है। एक या एक से अधिक सार्थक ध्वनियों के समूह को 'पद' कहते हैं। भाषाविज्ञान में इसे 'रूप' भी कहा जाता है। विश्व की प्रत्येक भाषा में - चीनी परिवार की भाषाओं को छोड़कर- कुछ ऐसे प्रत्यय प्राप्त होते हैं जो कुछ विशिष्ट ध्वनियों के साथ जोड़ देने से अर्थ को प्रभावित करने लग जाते हैं। इस तरह के ध्वनिसमूहों को भाषाविज्ञान में 'पद' या 'रूप' कहा जाता है। कुछ भाषावैज्ञानिक इन्हें 'शब्द' कह देते हैं, पर 'शब्द' इस प्रयोग का अर्थ इतना अधिक व्यापक है कि उसे पद के अर्थ तक सीमित कर पाना कठिन है। पद को भली प्रकार से समझना हो तो संस्कृत भाषा से परिचय होने के कारण उसका उदाहरण लेना ठीक रहेगा। 'पतति' यह एक पद है। इसमें 'पत्' इन तीन या दो ध्वनियों का प्रयोग गिरने के अर्थ में होता है। इसके साथ 'अ(शप्)' अन्तःप्रत्यय का और 'ति(तिप्)' प्रत्यय का प्रयोग करने से यह एक पद बन जाता है जिसका अर्थ है 'गिरता है'। इस तरह पद की सहायता से सार्थक ध्वनियों को प्रयोग की निश्चित दिशा प्राप्त हो जाती है जिससे भाषा के गठन में अत्यन्त महत्वपूर्ण सहायता मिलती है।

आधुनिक भाषाविज्ञान में पदों के अध्ययन को लेकर, किसी विशेष रुचि, अथवा पद्धति के दर्शन नहीं होते। आकृतिमूलक वर्गीकरण में अवश्य पद को एक सीमा तक आधार बनाकर अध्ययन किया जाता है। पर संस्कृत व्याकरण में 'पद' का बहुत अधिक अध्ययन हुआ है। सच कहा जाये तो पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' संस्कृत पदों का ही मुख्य रूप से विवेचन करती है। परवर्तीकाल में चलकर अष्टाध्यायी को आधार बनाकर सिद्धान्तकौमुदी सदृश जिन प्रक्रिया-ग्रन्थों की रचना हुई उन्होंने तो संस्कृत व्याकरण में पदविज्ञान को निश्चित शास्त्रीयता प्रदान की है।

भाषा के गठन में चौथा और अन्तिम स्थान वाक्य का है। वाक्य की अनेक परिभाषाएं की गई हैं। पर दो परिभाषाओं पर विद्वानों में सर्वाधिक सहमति है। संस्कृत व्याकरण शास्त्र में 'एकतिङ् वाक्यम्' कहकर वाक्य उसे माना गया है जिसमें एक क्रिया अवश्य हो। इस बात का महत्व सीमित है कि वह क्रिया स्पष्ट रूप से प्रयुक्त है या अन्तर्निहित है। पर क्रिया के बिना वाक्य अधूरा माना जाता है। काव्यशास्त्र में 'पदसमूहःवाक्यम्' कहकर वाक्य उसे माना गया है जिसमें पदों का समूह हो। इन दोनों परिभाषाओं का अपना-अपना महत्व है। वस्तुस्थिति तो यह है कि ये दोनों परिभाषाएं मिलकर ही वाक्य की एक पूरी परिभाषा बनती हैं।

यद्यपि हमने भाषा के गठन में विभिन्न अवस्थाओं का आश्रय लेते हुए क्रमशः ध्वनि, अर्थ, पद और वाक्य को उसका गठक तत्व माना है और वाक्य का विवेचन सबसे अन्त में किया है, पर भाषा की परिभाषा कर चुकने के बाद और भाषा के गठन पर विचार कर लेने के बाद हमारे लिए यह समझना बिल्कुल कठिन नहीं रह जाता है कि वाक्य ही भाषा की वास्तविक इकाई है। चूंकि भाषा का मुख्य और एकमात्र कार्य विचार सम्प्रेषण है, इसलिए इस कार्य में ध्वनि, अर्थ अथवा पद, अकेले-अकेले कोई भी इस उद्देश्य को पूरा नहीं कर सकते। जब तक इन तीनों का समुच्चय एक वाक्य के रूप में नहीं हो

जाता तब तक इनका कोई विशेष महत्त्व नहीं है। गौ, अश्व, मनुष्य, हाथी–ये सब सार्थक ध्वनियों वाले पद हैं, पर जब तक इनका वाक्य में उपयोग अथवा प्रयोग नहीं हो जाता तब तक ये भाषा इसलिए नहीं कहे जा सकते क्योंकि इनके अकेले-अकेले प्रयोग से कुछ भी सम्प्रेषित नहीं हो रहा। वास्तविकता यह है कि वाक्य भाषा की न्यूनतम मूलभूत इकाई है और उसी का आगे विश्लेषण पद, अर्थ और ध्वनि में होता है। इससे भाषा के गठन में इन चारों तत्त्वों का और विशेषकर वाक्य का महत्त्व स्पष्ट हो जाता है।

3. भाषा की विशेषताएं

भाषा की व्यापक और भाषा-विज्ञानसम्मत परिभाषा समझने के बाद और भाषा के गठन का वैज्ञानिक विवेचन करने के बाद भाषा की कतिपय सामान्य विशेषताओं पर विचार कर लेना यहाँ प्रस्तुत प्रकरण की संगति के अनुरूप ही होगा।

(1) **भाषा सामाजिक वस्तु है**– समाज में विचार-विनिमय का महत्त्वपूर्ण साधन बनकर हमारी सहायता करने वाली इस भाषा की कतिपय सामान्य विशेषताएं क्या हैं? इस प्रश्न का पहला उत्तर यह है कि भाषा एक सामाजिक वस्तु है और यही इसकी सबसे बड़ी विशेषता है। यदि यह कहें कि जिस प्रकार यह समस्त जगत् बिना ऊर्जा के मृत्पिण्ड में बदल सकता है, या जिस प्रकार कोई शरीर बिना प्राण के मृत्पिण्ड में बदल जाता है, उसी प्रकार बिना भाषा के समग्र मानवसमाज मृत्पिण्ड हो जाता अथवा पशुसमाज की तरह एक दीन, हीन, निरीह समाज बनकर रह जाता। इस सम्बन्ध में पहले उद्धृत औदुम्बनारायण के उस वाक्य का महत्त्व फिर से पर्याप्त स्पष्ट हो जाता है जिसमें उन्होने कहा है कि भाषा का व्यवहार मानव समाज के दैनन्दिन जीवन में लघुता और सरलता लाने के लिए है। इसी बात को आचार्य दण्डी ने अपने काव्यादर्श में दूसरे ढंग से कहा है कि यह सब कुछ अन्धकार से आवृत्त हो जाता यदि इसमें भाषा का प्रकाश न फैल रहा होता–

"इन्दमन्धं तमः कृत्स्नं जायेत भुवनत्रयम्,
यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरासंसारं न दीप्यते।"

(2) **भाषा आनुवंशिक नहीं है**–भाषा सामाजिक तत्त्व है–इस प्रकार की स्थापना के बाद यह मानना भी स्वाभाविक ही प्रतीत होता है कि मनुष्य और भाषा का पारस्परिक सम्बन्ध सामाजिकता पर ही आधारित है, आनुवंशिकता पर नहीं। दूसरे शब्दों में मनुष्य को भाषा की प्राप्ति समाज से ही होती है पैतृक उत्तराधिकार से नहीं। समाज में रहकर मनुष्य जिस प्रकार अन्य अनेक वस्तुओं का अपनी योग्यता एवं क्षमता के अनुसार उपार्जन, संवर्धन या हानि प्राप्त करता है, वही सारी स्थिति भाषा के सम्बन्ध में भी लागू होती है। मनुष्य को अपने प्रयत्नों से भाषा उसी समाज से सीखनी पड़ती है जिस समाज में वह रहता है। उसी समाज में रहकर, उसी के प्रभाव के अन्तर्गत वह उस उपार्जित भाषा का संवर्धन भी करता है। उदाहरण के लिए मान लीजिए कि किसी पंजाबी भाषा-भाषी माता-पिता की कोई सन्तान अपने जन्मकाल से ही अपने भाषाई समाज से दूर हो जाए और उसका पालन-पोषण वहां होने लगे, जहां मान लीजिए, अंग्रेजी भाषा का चलन है तो उस बालक की मातृभाषा पंजाबी होने के बावजूद उसे उसका ज्ञान नहीं होगा और वह अपने समाज की भाषा अर्थात् अंग्रेजी ही जान पाएगा। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि भाषा मनुष्य की वह सम्पत्ति है जो उसे उत्तराधिकार में प्राप्त नहीं होती अपितु वह उसे अपनी योग्यता और क्षमता से ही अर्जित करता है।

(3) **भाषा का ज्ञान अनुकरण से होता है**– इस सम्बन्ध में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि मनुष्य अपनी क्षमता और योग्यता के आधार पर समाज से किस प्रकार भाषा को उपार्जित करता है। इस प्रश्न का स्वाभाविक उत्तर यह है कि वह इसकी प्राप्ति अनुकरण द्वारा ही करता है। बचपन से ही मनुष्य जिस प्रकार आस-पास के व्यक्तियों को बोलते हुए सुनता है उसी का अनुकरण करते हुए वह शनैः-शनैः अपनी योग्यता और क्षमता के आधार पर भाषा का उपार्जन कर लेता है। हम सभी अपने परिवारों में इस प्रक्रिया को प्रायः घटित होते देखते हैं। घरों के बच्चे अपने आस-पास के बड़े लोगों को जिस प्रकार बोलता हुआ सुनते हैं वे धीरे-धीरे वैसा ही बोलने के अभ्यस्त हो जाते हैं। ऐसा हमेशा ही होता है कि घर के बच्चों को बड़े लोग खुद ही बोलने की, अनुकरण का आश्रय लेने की प्रेरणा देते रहते हैं। जिस प्रकार समस्त जगत् का व्यवहार प्रकृति के अनुकरण पर हो रहा है, उसी प्रकार भाषा जैसी बहुमूल्य सम्पदा को भी मनुष्य अनुकरण से ही प्राप्त करता है।

(4) **परिवर्तनशीलता**–ऊपर हम कह आये हैं कि मनुष्य समाज से भाषा का उपार्जन अनुकरण की सहायता से अपनी योग्यता और क्षमता के आधार पर करता है। इसमें कोई भी सन्देह नहीं कि प्रत्येक व्यक्ति में अपनी पृथक् प्रकार की योग्यता और क्षमता होती है। इसका भाषाविज्ञान में यह अर्थ है कि प्रत्येक व्यक्ति के वाक्तन्तु और श्रवणतन्तु अपनी कुछ-न-कुछ पृथक

विशेषता लिए होते हैं। प्रत्येक व्यक्ति अपनी वाक्तन्तुओं और श्रवणतन्तुओं की क्षमता और रचना के आधार पर भाषा का अनुकरण करता है। इसके अतिरिक्त यह भी एक तथ्य है कि अपनी मानसिकता और बौद्धिक क्षमता के कारण भी प्रत्येक व्यक्ति की भाषा-अनुकरण की अपनी पृथक शैली बन जाती है। इस सबका परिणाम यह होता है कि यद्यपि किसी भाषा-भाषी समाज के सभी सदस्य समान रूप से अनुकरण करते हुए एक साथ एक ही भाषा सीखते हैं पर प्रत्येक व्यक्ति अपने विभिन्न प्रकार की सामर्थ्य के कारण भाषा को अपने ही ढंग से सीखता है। इसलिए सामाजिक वस्तु होने पर भी भाषा हर व्यक्ति की अपनी होती है। प्रत्येक व्यक्ति के साथ अपनी तरह से भाषा का प्रयोग होता रहता है और भाषा में निरन्तर परिवर्तन होता रहता है। इस प्रकार भाषा की चिरपरिवर्तनशीलता उसकी एक अत्यधिक महत्त्वपूर्ण विशेषता है।

(5) सरलता की प्रवृत्ति–जिस प्रकार अनुकरण करना मानव की सहज विशेषता है, और हर व्यक्ति अपने ढंग से अनुकरण करने का अपना स्वाभाविक अधिकार सुरक्षित रखता है उसी प्रकार मानव स्वभाव की एक विशेषता यह भी है कि वह हमेशा सरलता की ओर उन्मुख रहता है। इसके दो पहलू हैं। एक पहलू यह है कि मनुष्य हमेशा सरल वस्तु शीघ्र ही ग्रहण कर लेता है। इसका दूसरा पहलू यह है कि मनुष्य कठिन वस्तु को भी सरल बनाकर ग्रहण करना चाहता है। भाषा के सम्बन्ध में ये दोनों पहलू महत्त्वपूर्ण हैं। मनुष्य सरल भाषाएं जल्दी सीखता है और भाषा के कठिन अंशों को भी अपनी क्षमता और स्वभाव के कारण सरल बना लेता है। इसका परिणाम यह होता है कि प्रत्येक भाषा जिस प्रकार मनुष्य के कारण परिवर्तनशील बनी रहती है वैसे ही मनुष्य के स्वभाव के कारण उसमें सदा कठिनता से सरलता की ओर बढ़ने की प्रवृत्ति बनी रहती है। यही कारण है कि आज अगर किसी भाषा में संयुक्त अक्षरों की भरमार है या समस्त पदावली का प्रयोग अधिक है तो उसके परवर्ती परिवर्तित रूप में सरलता का प्राधान्य रहेगा। यदि किसी भाषा में जानबूझकर क्लिष्टता उत्पन्न करने का प्रयास किया जाता है तो इसका यही अर्थ है कि वह भाषा अपने स्वाभाविक प्रवाह से हटकर साहित्यिकता की परिधि में प्रवेश कर रही है। यही कारण है कि साहित्यिक भाषाएं प्राय: अनुकरण की सहायता से नहीं, अपितु व्याकरण की सहायता से सीखी जाती हैं।

(6) यादृच्छिकता–इसे हम भाषा की एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विशेषता मान सकते हैं। जब हम कोई भाषा व्याकरण की सहायता से सीख रहे होते हैं या उसका गम्भीर विवेचन कर रहे होते हैं तो हमें ऐसा आभास होने लगता है कि मानो भाषा की संरचना किसी तार्किक आधार पर की गई हो। पर यह आभास मिथ्या है। भाषा की पूरी संरचना का तार्किकता के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। नाम और रूप में परस्पर सम्बन्ध किसी तर्क प्रमाण अथवा हेतु के आधार पर नही टिका है। यदि किसी एक खास वस्तु को हम कुर्सी कहते हैं और दूसरी किसी वस्तु को मेज़ कहते हैं तो उसके पीछे किसी कारण या तर्क का बल नहीं है। हम मेज को कुर्सी और कुर्सी को मेज़ भी कह देते तो कोई अन्तर पड़ने वाला नहीं था। कल को हम इस प्रकार कहना प्रारम्भ कर दें तो कोई आश्चर्य नहीं है। भाषा न तो तर्क पर टिकी है न किसी हेतु पर, इसका रूप तो यादृच्छिक है; स्वयमेव इसमें नामरूप सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। नैयायिक कहते हैं कि नामरूप के इस सम्बन्ध को जोड़ने वाला ईश्वर है। पर यह धारणा श्रद्धा पर टिकी प्रतीत होती है वैज्ञानिकता पर नहीं। मनुष्य अपनी क्षमता और स्वभाव के आधार पर जैसे भाषा का प्रयोग करता है उस तरह से विकसित होने वाली भाषा यादृच्छिक ही हो सकती थी, तर्कसम्मत नहीं। इस प्रकार यादृच्छिकता भाषा की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता बनकर हमारे सामने आती है।

4. भाषा के अनेक रूप

भाषा की उपर्युक्त विशेषताओं के आधार पर उसके एक रूप की कल्पना हम स्वयमेव ही कर सकते हैं कि सामाजिक वातावरण में से उत्पन्न होने वाली भाषा, जिससे मनुष्य की इच्छा और प्रयत्नों के कारण निरन्तर परिवर्तन होते रहते हैं, कभी भी और कहीं भी एक रूप नहीं रह सकता। यहां तक कि एक ही स्थान पर एक समय में भाषा के अनेक रूप प्राप्त हो जाते हैं। इसलिए यह निष्कर्ष निकाल लेना पूर्ण रूप से स्वाभाविक ही है कि भाषा के विविध रूप होते हैं। यहां हम भाषा की जिस विविधता का विवेचन कर रहे हैं उसका सम्बन्ध भाषा की विभिन्न सामाजिक, साहित्यिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों के साथ है। इस आधार पर भाषा के जो अनेक रूप हमें मिलते हैं उनका भाषावैज्ञानिक विवेचन इस प्रकार किया जा सकता है:–

भाषा और बोली–भाषा के अनेक रूपों का विवेचन करने से पूर्व हमें दो मूलभूत शब्दों–भाषा और बोली में अन्तर समझ लेना चाहिए। प्राय: हम अपने दैनन्दिन जीवन में इन दोनों का प्रयोग इन्हें एक मानकर ही कर लेते हैं। पर भाषा विज्ञान में ये दोनों शब्द पर्यायवाची नहीं हैं। नि:सन्देह बोली का सम्बन्ध भाषा से ही है, पर बोली और भाषा में पर्याप्त अन्तर भी है जिसे समझना बहुत ही आवश्यक है।

भाषा और बोली में पहला अन्तर यह है कि भाषा के **प्रारंभिक रूप को बोली** कहा गया है वहां उसकी अत्यधिक **परिष्कृत और परिपक्वावस्था को भाषा** कहा जाता है। सामान्यतः भाषा को अपने अत्यधिक स्वाभाविक रूप में बोले जाने की स्थिति को बोली कहते हैं। इसके स्वरूप के बारे में यह भी कहा जा सकता है कि प्रायः अशिक्षित लोगों द्वारा अथवा उनकी सुविधा के लिए बोलचाल में लाए जाने वाले माध्यम (भाषा) को बोली कहते हैं। इस स्थापना में सत्यता का अंश भी है। क्योंकि प्रायः अशिक्षित समुदाय ही अपने बोलचाल को बाह्य प्रभाव की आडम्बरशीलता से मुक्त रख सकता है और उसे स्वाभाविक रूप में चलाए रख सकता है। इसके विपरीत साहित्यिक रूप को प्राप्त हो चुकी बोली भाषा के नाम से व्यवहृत होती है। भाषा एवं साहित्य के विद्वान् स्वनिर्मित मानदण्डों की सहायता से भाषा के शुद्धाशुद्ध रूप का निर्धारण कर लेते हैं और उस शुद्धता को बनाए रखने का विशेष आग्रह करते हैं। ऐसी स्थिति में भाषा के स्वाभाविक विकास की गति में अवरोध आ जाता है। इसलिए यह कहा जा सकता है कि जहां बोलचाल के स्वाभाविक माध्यम को बोली कहते हैं वहां परिष्कार एवं संस्कार की सहायता से मानकीकृत बोली को भाषा कहते हैं।

बोली और भाषा में दूसरा अन्तर यह माना गया है कि **जहां बोली में परिवर्तन की गति कुछ धीमी रहती है वहां भाषा में अपेक्षाकृत परिवर्तन नहीं होता या बहुत ही मन्द गति से होता है।** इसका कारण यह है कि बोली में उसको किसी विशेष रूप से बोलने पर कोई आग्रह नहीं किया जाता। उसमें स्वाभाविकता के कारण उच्चारण में सौकर्य भी होता हे और स्वतंत्रता भी। इसलिए उसमें अनुकरण की अपूर्णता के कारण होने वाले परिवर्तनों का अवकाश सदा ही और बहुत अधिक बना रहता है। कुछ ही वर्षों बाद बोली की किसी विशेष ध्वनि में या उसके विशेष अर्थ में परिवर्तन आ जाता है। परिणामतः बोलियां सदा परिवर्तनशील रहती हैं। इसके विपरीत भाषा में प्रायः स्थिरता का अंश प्रभावी रहता है। उसमें व्याकरण और परिपाटी का भय दिखाकर भाषा में परिवर्तन को अशुद्ध कहकर निरुत्साहित किया जाता है। इसलिए जहां बोलियां दशाब्दियों में ही बदल जाती हैं वहां भाषाएं शताब्दियों तक तो क्या सहस्राब्दियों तक भी वैसी की वैसी बनी रहती हैं। संस्कृत एक भाषा है। बाल्मीकि की संस्कृत और आज की संस्कृत में बहुत कम परिवर्तन हुआ है क्योंकि व्याकरण ने उसे बांध रखा है। यही स्थिति साहित्यिक प्राकृतों की हुई है और यही स्थिति आज की साहित्यिक हिन्दी, बंगाली, मराठी, तमिल आदि की होने वाली है।

भाषा और बोली में तीसरा और सबसे महत्त्वपूर्ण अन्तर यह होता है कि **जहां बोली का क्षेत्र सीमित होता है वहां भाषा का क्षेत्र असीमित** होता है। इसका कारण यह है कि अपने मानकीकृत साहित्यिक रूप को प्राप्त कर लेने के बाद भाषा अपने लिए एक ऐसा आकर्षण पैदा करती है कि वह उन सभी विज्ञ लोगों के प्रयोग का माध्यम बन जाती है जो साहित्य विज्ञान या किसी भी प्रकार की बौद्धिक गतिविधि का आश्रय लेकर अपनी स्वीकृति और मान्यता की परिधि का विस्तार करना चाहते हैं। उदाहरणतया आज भारत के पांच बड़े-बड़े प्रदेशों-हरियाणा, उत्तर प्रदेश, बिहार, मध्यप्रदेश और राजस्थान की भाषा हिन्दी हैं। जिस मानकीकृत साहित्यिक हिन्दी को इन प्रदेशों की भाषा कहा जाता है वहां बोलियों की संख्या बहुत अधिक है। पर साहित्यिक हिन्दी में बौद्धिक गतिविधि का आश्रय लेकर कोई भी व्यक्ति अपनी स्वीकृति की परिधि इन पांचों विशाल प्रदेशों और उनसे सटे प्रदेशों में जहां साहित्यिक हिन्दी समझी जाती है, फैला लेता है और काल की दृष्टि से भी उसकी पहुंच बहुत बढ़ जाती है। हिन्दी क्षेत्रों की किसी भी बोली में लिखा गीत एक ओर उस बोली के सीमित प्रयोग क्षेत्र से बाहर नहीं जा पाएगा वहां दूसरी ओर वह शीघ्रता से परिवर्तनशील बोली के साथ कुछ ही वर्षो बाद इतिहास के गर्त में खो जाएगा। पर सामाजिक स्तर को प्राप्त भाषा में लिखा ग्रंथ विस्तृत क्षेत्र और बहुत लम्बी कालावधि का लाभ प्राप्त कर लेता है। संस्कृत भाषा में लिखे साहित्य को शताब्दियां-सहस्राब्दियां बीत जाने के बाद भी आज तक सम्पूर्ण भारत में स्वीकृति मिली है जबकि इसी दौरान सारे भारत की विभिन्न बोलियों में लिखा साहित्य काल भोज्य हो चुका है इसी परिप्रेक्ष्य में भाषा और बोली के अन्तर को स्पष्ट रूप में समझा जा सकता है।

2. विभाषा–हमने ऊपर भाषा और बोली में अन्तर स्पष्ट करते हुए कहा है कि जहां भाषा बोली का साहित्यिक या मानकीकृत रूप है वहां बोली इससे बिल्कुल अलग है। भाषा वैज्ञानिकों का मानना है कि जहां एक बोली की कोई एक ही भाषा होती है वहां एक भाषा की अनेक या असंख्य बोलियां हो सकती हैं। इस परिस्थिति को और भी अधिक स्पष्ट करने के लिए भाषा वैज्ञानिकों ने विभाषा नाम से एक अन्य भाषा रूप की कल्पना की है जिसे वे भाषा और बोली के मध्य रखते हैं। अगर हिन्दी एक भाषा है, उसकी कई जानी अनजानी सैकड़ों बोलियां हैं तो ब्रज, अवधी, भोजपुरी, मैथिली आदि को विभाषा

मान लिया गया है। विभाषा एक तरह से बोली और भाषा के बीच की एक कड़ी के समान है जो बोली के अभ्यस्त आम लोगों को अपनी बोली के समान लगती है जबकि उसमें साहित्य रचना होने के कारण वह भाषा के भी काफी निकट पहुंच जाती है। विभाषा को भाषा इसलिए नहीं कह सकते क्योंकि वह भाषा के समान विस्तृत क्षेत्र को प्रभावित नहीं करती और उसमें अपेक्षाकृत कम मानकीकरण के कारण उस की काल सम्बन्धी सीमाएं भी स्पष्ट रहती हैं।

3. राष्ट्र-भाषा–भाषा का यह रूप नितांत आधुनिक है और इसे भाषाई कम और राजनीतिक अधिक कहा जाता है। विश्व का हर देश आजकल अपनी राजनीतिक अस्मिता की सार्थकता बनाए रखने के लिए कुछ ऐसे साधनों और प्रतीकों को अपनाता है जो उसमें राजनीतिक एकता बनाए रख सके। राष्ट्रभाषा एक ऐसा ही साधन है। किसी देश में जहां अनेक भाषाएं होती हैं वहां उनमें से किसी एक भाषा को जिसके बोलने वालों की संख्या सबसे ज्यादा हो, या जिसके बोलने वालों का राजनीतिक वर्चस्व सर्वाधिक हो, उसे उस देश की सरकार द्वारा राष्ट्र भाषा घोषित कर दिया जाता है। अपने संख्या बल की शक्ति के आधार पर हिन्दी भारत की राष्ट्रभाषा है। भाषाविज्ञान की दृष्टि से यह एक भाषा ही है। केवल राष्ट्रभाषा होने के कारण इसका भाषावैज्ञानिक विवेचन हिन्दी के साहित्यिक रूप के विवेचन से अलग नही हो जाता इसलिए भाषा विज्ञान में इसे भाषा का एक पृथक रूप माना जाए या नहीं इस पर विवाद हो सकता है।

इस प्रकार भाषा के आदर्श भाषा, राजभाषा, परिनिष्ठित भाषा, अपभाषा, सम्पर्क भाषा आदि अनेक दूसरे रूप भी गिनवाए जाते हैं पर भाषा विज्ञान की दृष्टि से या तो वे निरर्थक हैं या फिर उन्हें बोली, विभाषा और भाषा में ही अन्तर्युक्त किया जा सकता है। निष्कर्षस्वरूप भाषा के तीन विशिष्ट रूप ही हमारे सामने आते हैं–भाषा, विभाषा और बोली।

पाठ–2
भाषा विज्ञान–स्वरूप एवं परिधि

– डॉ. सूर्यकान्त बाली

1. भाषा विज्ञान का नामकरण

जिस प्रकार भाषा की सामान्य परिभाषा यह है कि जो मनुष्यों के पारस्परिक विनियम का साधन है उसे भाषा कहते हैं, उसी प्रकार भाषा विज्ञान की भी सामान्य परिभाषा यह है कि जिसकी सहायता से भाषा का अध्ययन किया जाए वह भाषा विज्ञान है। पर भाषा के सामान्य अध्ययन से पृथक जो उसका व्यवस्थित और वैज्ञानिक अध्ययन है उसी में भाषा विज्ञान की सार्थकता है। यही कारण है कि भाषा के हर सामान्य अथवा अनियमित अध्ययन को हम भाषा-विज्ञान की कोटि में नहीं रख सकते।

यद्यपि आज भाषाविज्ञान का प्रचलन सारे विश्व में हो चुका है और भारत में तो इसका विशेष अध्ययन हो रहा है, किन्तु मूलत: आधुनिक भाषाविज्ञान से जो अर्थ समझा जाता है उसका अध्ययन यूरोप में और वहां भी यूनान में प्रारम्भ हुआ है। यूरोप में भाषाविज्ञान के लिए जिन शब्दों का प्राय: प्रचलन रहा है वे ये हैं – साईंस ऑफ लेंग्वेज़, ग्लासोलोजी, ग्लाथेलोजी, फिलोलोजी और लिंग्विस्टिक्स। वैसे प्रारम्भ में इसे ग्रामर या कम्पेरेटिव ग्रामर कहने का चलन भी कुछ समय तक यूरोप में रहा है। इसका अध्ययन जिस किसी भी रूप में हुआ उसे ग्रामर या व्याकरण कहा जाता था। इसलिए जब प्रारम्भ में कुछ विद्वानों ने नए ढंग से भाषा का अध्ययन करना शुरू किया तो परम्परागत विद्वानों ने उसके महत्त्व को न समझने के कारण या उसे परम्परागत अध्ययन का ही एक नया रूप मान लेने की गलतफहमी के कारण उसे भी ग्रामर या व्याकरण ही कहना चाहा। पर शीघ्र ही यह स्पष्ट होने लगा कि जहां परम्परागत व्याकरण केवल एक ही भाषा का विश्लेषण करता है, वहां नए प्रकार के अध्ययन में एक से अधिक भाषाओं की परस्पर तुलना भी की जाती है तो परम्परागत विद्वानों ने इसे कम्पेरेटिव ग्रामर या तुलनात्मक व्याकरण कहना शुरू कर दिया। पर जैसे ही विद्वानों को यह स्पष्ट होने लगा कि भाषा के उस नए तुलनात्मक अध्ययन में व्याकरण की अपेक्षा गुणात्मक अन्तर है तो फिर इसके लिए अनेक प्रकार के नामों का प्रयोग होने लगा।

पश्चिम में भाषा के अध्ययन के लिए सामान्य रूप से 'साईंस ऑफ लेंग्वेज़' (भाषा का शास्त्र अथवा विज्ञान) शब्द का प्रचलन रहा है। पर्याप्त सरल और सार्थक होने के बावजूद यह शब्द इस महत्त्वपूर्ण विज्ञान का शास्त्रीय नामकरण नहीं हो सका। इसका कारण भी स्पष्ट है। यह शब्द नहीं एक वाक्य प्रतीत होता है और एक शास्त्र या विज्ञान के नामकरण के लिए इसमें उचित तकनीकी सौष्ठव और सटीकता का अभाव है। इसलिए भाषाविज्ञान की विषयवस्तु को सामान्य जन को समझाने मात्र की दृष्टि से इसका प्रयोग अब भी होता है पर इसे विज्ञान का नामकरण होने का गौरव प्राप्त नहीं हो सका।

ग्लॉसोलोजी और ग्लोथेलोजी–ये दो नाम इस शास्त्र के लिए एक स्वल्प कालावधि के लिए प्रयुक्त होते रहे हैं। डेवीज़ नामक भाषाविद् ने सन् 1817 में ग्लॉसोलोजी शब्द का प्रयोग किया। फिर सन् 1841 में भाषा-वैज्ञानिक प्रिचर्ड ने भाषाविज्ञान के लिए ग्लोथेलोजी शब्द का प्रयोग किया। इनमें प्रयुक्त "ग्लॉस" या "ग्लॉट" का सम्बन्ध "जिह्वा" 'वाणी' अथवा 'भाष्य' से है। इस प्रकार कुछ सीमा तक इन दोनों शब्दों से भाषाविज्ञान को उचित नाम दिया जा सकता है। मैक्सम्यूलर ने कुछ भिन्न अर्थ में ग्लोथेलोजी का प्रयोग स्वीकार किया तो भाषावैज्ञानिक श्री एफ जी टकर ने अपनी पुस्तक Introduction of Natural Histroy of Language में 'ग्लॉथेलोजी' को भाषाविज्ञान के नामकरण के लिए सर्वोत्तम शब्द माना। कुछ समय तक विद्वानों के बीच इन दोनों शब्दों का प्रयोग होता भी रहा पर इन शब्दों को भाषाविज्ञान के नामकरण के लिए अन्तिम रूप से मान्यता कभी नहीं मिल सकी।

भाषाविज्ञान के लिए जिन दो शब्दों का प्रयोग सर्वाधिक होता आया है और आज भी हो रहा है वे है–फिलोलोजी और लिंग्विस्टिक्स। जहां 'फ़िलोलोजी' शब्द सदियों पुराना है वहां 'लिंग्विस्टिक्स' शब्द का प्रयोग कुछ दशक ही पुराना है। फ़िलोलोजी शब्द मूलत: ग्रीक भाषा का है जो दो शब्दों को जोड़कर बनाया गया है–फ़िलास और लोगोस्। ये दोनों शब्द बहुत ही व्यापक अर्थ वाले हैं। इनमें से लोगोस शब्द का अर्थ है बातचीत या शब्द। इसी से.वह सामान्य शब्द 'लॉजी' बना है जो विज्ञान या शास्त्र के अर्थ में फ़िलोलोजी, साइकोलोजी, एन्थ्रोपोलोजी जैसे अनेक शब्दों में प्रयुक्त हुआ है। 'फिलोस' का अर्थ साहित्य, भावुकता

या स्नेहवाची है और प्राय: इसे साहित्य के अर्थ में ही ग्रहण करने की परम्परा रही है। इन दोनों शब्दों को मिलाकर बना 'फिलोलोजी' शब्द आज भाषाविज्ञान का पर्यायवाची अवश्य है पर मूलत: इसका अर्थ है 'साहित्य का अध्ययन'। इसी को स्पष्ट करते हुए भारत के विख्यात भाषावैज्ञानिक डॉ. पाण्डुरंग दामोदर गुणे ने कहा है-"फ़िलोलोजी का अर्थ वास्तव में साहित्यिक दृष्टि से किए गए अध्ययन से सम्बद्ध है। जर्मनी में, यूरोप के अन्य देशों के समान, आज भी फिलोलोजी का अर्थ है-"किसी भी जाति के साहित्य का अध्ययन।" पर जिस प्रकार भाषा के विभिन्न शब्दों की ध्वनियों और अर्थों में परिवर्तन होता रहा उसी प्रकार इस शास्त्र के नामकरण में प्रयुक्त शब्द फ़िलोलोजी का भी क्रमश: विकास हुआ है और आज इसका अर्थ है 'भाषाविज्ञान'। बीच के कुछ दशकों में 'फिलोलोजी' शब्द का विस्तार कर इसे 'कम्पेरेटिव फ़िलोलोजी' कहा जाने लगा। इसका कारण यह था कि (अपने अर्थ का प्रतिनिधित्व करते हुए) यह शब्द किसी एक भाषा (या उसके साहित्य) के अध्ययन के लिए प्रयुक्त होता था। जब आधुनिक भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन की परम्परा पड़ चुकी तब इस तुलनात्मक वाले पक्ष को ठीक प्रकार से प्रतिनिधित्व देने के लिए 'फ़िलोलोजी' शब्द अपर्याप्त माना गया और इसमें सम्पूर्णता लाने के लिए इसे 'कम्पेरेटिव फ़िलोलोजी' अर्थात् तुलनात्मक भाषाविज्ञान कहा जाने लगा। यद्यपि आज भी कई विद्वान आग्रह पूर्वक कम्पेरेटिव फिलोलोजी (नाम) का प्रयोग करते हैं, परन्तु अब भाषाविज्ञान के अध्ययन में उत्तरोत्तर यह धारणा बल पकड़ती जा रही है कि चूंकि अपने मौलिक स्वरूप में भाषा का अध्ययन ऐतिहासिक और तुलनात्मक परिप्रेक्ष्य में हुए बिना रह ही नहीं सकता इसलिए उसके आगे 'तुलनात्मक' अर्थात् 'कम्पेरेटिव' का प्रयोग निरर्थक है। इसलिए अब इस विज्ञान को 'फ़िलोलोजी' ही कहा जाता है।

अमेरिकन सम्प्रदाय (School) के प्रभाव के परिणामस्वरूप अब भाषाविज्ञान के लिए लिंग्विस्टिक्स शब्द का प्रयोग बहुत अधिक होने लगा है। यह शब्द लिंग्विस्टिक के रूप में फ्रांस में चला था जहां इस शब्द का प्रयोग लेटिन शब्द लिंगुआ के आधार पर हुआ था जिसका अर्थ है-'जीभ' पर अब इस शब्द का प्रभाव इतना अधिक बढ़ गया है कि नई पीढ़ी के भाषा वैज्ञानिक 'फिलोलोजी' के स्थान पर इसी का प्रयोग करना पसंद करते हैं।

भारत में आधुनिक भाषाविज्ञान का प्रचलन अंग्रेज भाषाविदों के माध्यम से हुआ है। यद्यपि संस्कृत-पालिप्राकृत व्याकरण के रूप में भारत में भाषा विज्ञान का अध्ययन सहस्राब्दियों पुराना है, तथापि आधुनिक काल में ही इसे नया नाम देने की प्रथा पड़ी है। इस प्रक्रिया में पण्डित सीताराम चतुर्वेदी ने इसे 'भाषालोचन' डॉ. उदयनारायण तिवारी ने इसे 'भाषा शास्त्र' और कुछ विद्वानों ने इसे 'भाषिकी', 'भाषातत्व', 'शब्दशास्त्र', 'तुलनात्मक भाषाविज्ञान', आदि अनेक नाम दिए हैं। पर डॉ. श्यामसुन्दर दास, डॉ. मंगलदेव शास्त्री, प्रो देवेन्द्रनाथ शर्मा, डॉ. भोलानाथ तिवारी, डॉ. मनमोहन गौतम सदृश विद्वानों ने इसे भाषाविज्ञान ही कहा है और आज यही नाम इस विज्ञान के लिए भारत में प्रयुक्त होता है।

2. भाषाविज्ञान और व्याकरण

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि, जब यूरोप में भाषाविज्ञान के रूप में भाषा का नए तरह का अध्ययन प्रारम्भ हुआ तो इसे पहले 'व्याकरण' और फिर 'तुलनात्मक व्याकरण' कहा गया। इसका कारण यह था कि व्याकरण और भाषाविज्ञान दोनों में ही भाषा का अध्ययन किया जाता था पर शीघ्र ही ऐसा मान लिया गया कि यद्यपि दोनों ही भाषा के अध्ययन से सम्बद्ध हैं तथापि दोनों में भाषा का अध्ययन अलग-अलग प्रकार से होता है। इस आधार पर भाषाविज्ञान के लिए 'व्याकरण' शब्द का प्रयोग छोड़ दिया गया। इस प्रसंग में यह समझना स्वाभाविक रूप से आवश्यक हो जाता है कि भाषाविज्ञान और व्याकरण में क्या-क्या समानताएं और असमानताएं हैं।

समानताएं-1. व्याकरण और भाषाविज्ञान में पहली समानता यह है कि **दोनों का सम्बन्ध भाषा से है।** प्राचीन भारतीय वाड्.मय में एक प्रसंग आता है कि वाणी अर्थात् भाषा पहले अव्याकृत थी इसलिए उसका विवेचन कर पाना कठिन था। इस समस्या से ग्रस्त होकर देवता इन्द्र के पास गए और कहने लगे कि इस भाषा को व्याकृत अर्थात् पृथक्-पथक् करके हमें समझाओ तो इन्द्र ने उसका व्याकरण अर्थात् पृथक्करण किया। इस प्रकार स्पष्ट है कि व्याकरण का सम्बन्ध भाषा के विश्लेषण के साथ है। जैसा कि इसके (भाषाविज्ञान के) नाम से ही स्पष्ट है भाषाविज्ञान भी भाषा के साथ अपना सम्बन्ध रखता है। यह दोनों की पारस्परिक समानता की सामान्य विशेषता है।

2. व्याकरण और भाषाविज्ञान में एक विशिष्ट सामानता यह है कि **दोनों भाषा का विवरण प्रदान करते हैं।** व्याकरण में वाक्य का विभाजन कर उसके विभागों का, उसकी न्यूनतम इकाइयों तक का विश्लेषण किया जाता है। इसे भाषा का विवरण देना कहा जाता है। भाषाविज्ञान भी भाषा का विवरण न्यूनाधिक इसी रूप में करता है। जैसा कि हम आगे देखेंगे भाषाविज्ञान

में भाषाओं का अध्ययन जिन तीन प्रणालियों के अन्तर्गत किया जाता है उनके नाम हैं–विवरणात्मक, ऐतिहासिक और तुलनात्मक। इनमें से पहली अर्थात् भाषाविज्ञान की विवरणात्मक प्रणाली में भाषा का अध्ययन लगभग उसी प्रकार किया जाता है जिस प्रकार व्याकरण में होता है।

असमानताएं– 1.व्याकरण और भाषाविज्ञान में समानताएं कम और असमानताएं अधिक हैं। असमानताएं न केवल अधिक हैं बल्कि अधिक महत्त्वपूर्ण भी हैं। सर्वप्रथम जहां **व्याकरण भाषा के शुद्ध-अशुद्ध रूप पर विचार करता है वहां भाषाविज्ञान उसका वस्तुनिष्ठ विवेचन करता है।** व्याकरण जब किसी भाषा के उपलब्ध रूप का विवेचन या वर्णन करता है तो वह उसके साधुत्व की स्थापना के लिए कुछ नियम भी बना देता है। भाषा तो अपने स्वाभाविक विकास की गति में आगे-ही-आगे बढ़ती रहती है जबकि व्याकरण वहीं स्थिर रहता है। इसलिए व्याकरणों में भाषा के विकसित परिवर्तित रूप को व्याकरण की दृष्टि से अशुद्ध और पूर्व प्रतिष्ठित रूपों को शुद्ध मानने की प्रवृत्ति बन जाती है। संस्कृत व्याकरण इसका जीवन्त उदाहरण है जहां उन सभी रूपों को अपाणिनीय (अशुद्ध) मानने की पद्धति है जिनका साधुत्व पाणिनि के नियमों के आधार पर स्थापित नहीं हो पाता। इसके विपरीत भाषाविज्ञान के लिए भाषा मात्र भाषा होती है, जैसी है वैसी ही ठीक होती है, उसमें शुद्ध या अशुद्ध कुछ नहीं होता। इस अन्तर के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि जहां **व्याकरण में भाषा का स्थितिशील विवेचन होता है, वहां भाषाविज्ञान में भाषा का गतिशील विवेचन होता है।**

2. व्याकरण और भाषाविज्ञान में दूसरा प्रमुख अन्तर यह है कि जहां **व्याकरण में भाषा का केवल विवरण होता है,** उसके बारे में कोई कारण-परिणाम मीमांसा नहीं होती, वहां **भाषाविज्ञान में विवरण के साथ-साथ कारण-परिणाम मीमांसा भी होती है।** उदाहरणतया देव शब्द का वैदिक संस्कृत में तृतीया बहुवचन रूप देवैः और देवेभिः दोनों मिलते हैं जबकि लौकिक संस्कृत में इसका केवल एक ही रूप मिलता है–देवैः। व्याकरण में विवेचन करते समय केवल इसका यथावत्, एक प्रकार से सूचनात्मक विवरण दे दिया जाएगा जबकि भाषाविज्ञान में दूसरे कारणों के आधार पर इस बात की परीक्षा की जाएगी कि संस्कृत की अकारान्त ध्वनियों में ऐसा परिवर्तन क्यों हुआ। कुछ दृष्टान्तों में तो सामाजिक राजनीतिक परिस्थितियों के आधार पर भाषा-गत परिवर्तन के कारणों को भी निर्धारित करने का प्रयास किया जाता है।

3. व्याकरण और भाषाविज्ञान में तीसरा प्रमुख अन्तर यह है कि जहां व्याकरण का सम्बन्ध केवल एक भाषा के विवेचन के साथ होता है वहां भाषाविज्ञान का सम्बन्ध सदैव एक से अधिक भाषाओं के साथ रहता है। उदाहरणतया, पाणिनि का अष्टाध्यायी ग्रन्थ अपनी वैज्ञानिकता के कारण विश्वविख्यात है, पर व्याकरण ग्रन्थ होने के कारण वह केवल संस्कृत का संस्कृत के सन्दर्भ में विवेचन करता है। अगर उसमें कहीं ध्वनिगत अथवा स्थानगत रूपान्तरों का विवेचन किया भी गया है तो वह सारा विवेचन संस्कृत भाषा के सन्दर्भ में ही किया गया है। इसके विपरीत यदि कोई विद्वान संस्कृत का भाषावैज्ञानिक अध्ययन करता है तो वह संस्कृत के साथ-साथ उसकी तुलना एक ओर भारोपीय भाषाओं ग्रीक, लेटिन, अवेस्ता और गॉथिक जैसी प्राचीन क्लासिकल भाषाओं के साथ और दूसरी ओर मध्यकालीन तथा आधुनिक आर्यभाषाओं के साथ किए बिना रह नहीं सकता। इस आधार पर कहा जा सकता है कि जहां **व्याकरण सदा एकभाषिक अध्ययन करता है वहां भाषाविज्ञान का विवेचन अनिवार्य रूप से बहुभाषिक होता है।**

4. इस आधार पर आधुनिक भाषावैज्ञानिकों ने यह निष्कर्ष निकालने का प्रयास किया है कि **भाषाविज्ञान अंगी है तो व्याकरण उसका अंग है।** यह निष्कर्ष पर्याप्त सीमा तक उचित और योग्य प्रतीत होता है। क्योंकि विवेचन की दृष्टि से जहां भाषाविज्ञान में तटस्थता के साथ-साथ गतिशीलता है, कारण-परिणाम मीमांसा है और अनेक भाषाओं का ऐतिहासिक और तुलनात्मक विवेचन है, वहां व्याकरण केवल एक ही भाषा के एकान्त और स्थितिशील अध्ययन का नाम है। व्यापकता की परिधि की दृष्टि से भाषाविज्ञान निश्चित रूप से एक सम्पूर्ण अध्ययन है जबकि व्याकरण का अध्ययन एकांगी होता है। इसलिए भाषाविज्ञान को अंगी और व्याकरण को उसका अंग कहना उचित ही है।

3. भाषाविज्ञान के अध्ययन के क्षेत्र

पहले पाठ में भाषा के स्वरूप का अध्ययन करते हुए हमने भाषा के गठन पर भी विचार किया था। उस विवेचन में हमने भाषा के चार गठक तत्वों की ओर संकेत किया था–ध्वनि, अर्थ, पद और वाक्य। यदि भाषाविज्ञान भाषा का अध्ययन प्रस्तुत करता है तो यह बात स्वयंसिद्ध है कि वह भाषा के चार गठक तत्वों का अध्ययन करेगा। इस आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि भाषाविज्ञान के अध्ययन के प्रमुख क्षेत्र चार हैं–ध्वनि, अर्थ, पद और वाक्य। इन चार प्रमुख क्षेत्रों के अतिरिक्त कुछ अन्य

गौण भाषाई क्षेत्र भी हैं जो भाषाविज्ञान के अध्ययन का विषय बनते हैं। इस प्रकार भाषाविज्ञान के अध्ययन के क्षेत्र का विवेचन करना आवश्यक भी है और महत्त्वपूर्ण भी।

1. **ध्वनिविज्ञान**– भाषाविज्ञान अपने आप में एक सम्पूर्ण विज्ञान है। इसलिए इसमें उपविज्ञानों का होना स्वाभाविक ही है। भाषाविज्ञान के अध्ययन का वह क्षेत्र जहां भाषा के मूलभूत गठक तत्त्व ध्वनि का अध्ययन किया जाता है, ध्वनिविज्ञान कहा जाता है। एक दृष्टि से ध्वनिविज्ञान भाषा-विज्ञान का ही उपविज्ञान है।

ध्वनिविज्ञान के अन्तर्गत ध्वनियों का विवेचन कई प्रकार से किया जाता है। सबसे पहले ध्वनिविज्ञान में मनुष्य के ध्वनितन्त्र का अध्ययन होता है जिसमें अनेक तन्तु होते हैं एवं जिनकी सहायता से मनुष्य ध्वनियों का उच्चारण करने में सफल होता है। इन ध्वनि तन्तुओं को ध्वनियन्त्र, वाग्यन्त्र, ध्वनिअवयव आदि अनेक नामों से अभिहित किया जाता है। इनकी संख्या बीस से भी अधिक है जो मनुष्य के बाहर प्रतीयमान ओठों से लेकर मुख के भीतर जिह्वा के मूल भाग तक स्थित हैं। मनुष्य के उच्चारण की विविधता और स्वरूप इन ध्वनि अवयवों की सहायता से ही निश्चित होते हैं। ध्वनिविज्ञान में इनका अध्ययन दो प्रकार से होता है–सैद्धान्तिक और प्रायोगिक। प्राचीन काल से ही भारत के शिक्षा नामक ग्रन्थों में इनका सैद्धान्तिक अध्ययन होता आया है। इसी अध्ययन के आधार पर उच्चारण-स्थान, आभ्यन्तर प्रयत्न, बाह्यप्रयत्न आदि का निर्णय किया गया है। आधुनिक काल में प्रयोगशालाओं में वैज्ञानिक उपकरणों की सहायता से उन ध्वनि-अवयवों से निःसृत होने वाले परिणामों का वैज्ञानिक अध्ययन किया जाता है। इस प्रकार के अध्ययन को शारीरिक ध्वनिविज्ञान कहते हैं।

शारीरिक ध्वनिविज्ञान के अतिरिक्त इसके अन्तर्गत ध्वनिपरिवर्तनों का भी समग्र विवेचन किया जाता है। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि भाषा का रूप निरन्तर परिवर्तनशील रहता है। व्यक्ति की अपनी अनुकरण की अपूर्णता के कारण और अन्यान्य सामाजिक-आर्थिक राजनीतिक कारणों से भाषा में निरन्तर परिवर्तन होता ही है। यह परिवर्तन भाषा की ध्वनियों में भी होता है। उन परिवर्तनों के कारणों का विवेचन करना ध्वनिविज्ञान के अध्ययन-क्षेत्र का विषय है। ध्वनिविज्ञान में न केवल ध्वनिपरिवर्तन के कारणों का विवेचन होता है, अपितु इस परिवर्तन की दिशाओं का विवेचन भी किया जाता है। जैसे संस्कृत शब्द उष्ट्र आज की हिन्दी में ऊंट बन गया है। ध्वनिविज्ञान में इसे ध्वनिपरिवर्तन की अनुनासिकीकरण दिशा कहा जाता है। ऐसी और भी अनेक दिशाएं हैं।

ध्वनिपरिवर्तन और अर्थपरिवर्तन में सबसे बड़ा अन्तर यह है कि जहां अर्थपरितर्वन की दिशा मनुष्य की इच्छा पर निर्भर रहने के कारण बहुत कुछ अनिश्चित रहती है वहां ध्वनिपरिवर्तन का पर्याप्त सीमा तक नियमन हो सकता है। इसलिए ध्वनिविज्ञान में अनेक प्रकार के ध्वनिनियमों का विवेचन किया जाता है। भारोपीय भाषाओं में कुछ ध्वनिपरिवर्तनों का नियमन करने वाले कुछ नियम जैसे–ग्रिम-नियम, ग्रासमैन नियम, बर्नर-नियम आदि बहुत महत्त्वपूर्ण हैं जिन्हें ध्वनिविज्ञान के अन्तर्गत लिया जाता है। इन नियमों के फलस्वरूप भारोपीय भाषाओं के अध्ययन में जो युगान्तकारी परिवर्तन हुए हैं उनका ध्वनिविज्ञान में महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसके अतिरिक्त अपश्रुति के आधार पर भारोपीय ध्वनियों (स्वरों) में हुए परिवर्तन का स्थान भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है।

ध्वनिविज्ञान के अन्तर्गत ध्वनियों का अध्ययन दो प्रकार से किया जाता है। एक, ध्वनियों का सामान्य अध्ययन और दो, किसी भाषा की ध्वनियों का विशेष अध्ययन। ध्वनिविज्ञान में इनके लिए दो पृथक् नाम भी हैं जिन्हें क्रमशः फोनेरिक्स और फोनोलोजी कहा जाता है। इनके निश्चित हिन्दी रूपान्तर अभी प्रयोग में नहीं लाए जाते हैं पर शिथिल रूप में उन्हें ध्वनिविज्ञान और भाषा-ध्वनिविज्ञान कह दिया जाता है। इन सभी पक्षों का विस्तृत और सोदाहरण अध्ययन आगे चलकर किया जायेगा।

2. **अर्थविज्ञान**–पिछले कुछ समय से भाषावैज्ञानिकों में इस विषय पर मतभेद उत्पन्न हो गया है कि अर्थविज्ञान भाषाविज्ञान का क्षेत्र बन सकता है या नहीं। भाषा के गठन के प्रसंग में इस विषय पर कुछ चर्चा भी की गई है। यहां यह जानना आवश्यक है कि जिस अमेरिकन सम्प्रदाय (School of thought) के आग्रह पर यह विवाद उत्पन्न हुआ है उसकी पृष्ठभूमि क्या है। अमेरिका में यद्यपि अंग्रेजी भाषी बहुमत के हाथ सत्ता के सभी सूत्र हैं, पर इस देश में अनेक ऐसे कबीले और जातियां है जिनकी अपनी अलग-अलग बोलियां हैं जिनका अंग्रेजी से दूर का भी नाता नहीं है, यहां तक कि उनका कोई लिखित रूप भी नहीं है। अमेरिकन भाषावैज्ञानिकों में जब इन बोलियों के अध्ययन की जिज्ञासा पैदा हुई तो भाषाई अध्ययन के आधुनिक उपकरणों की सहायता से उन्होंने इनको जानना समझना प्रारम्भ किया। चूंकि इन बोलियों का अर्थ समझने का कोई माध्यम उनके पास नहीं था इसलिए उनका सारा बल इन बोलियों की ध्वनियों के अध्ययन पर ही केन्द्रित हो गया। परिणामस्वरूप धीरे-धीरे अमेरिकन सम्प्रदाय के

भाषावैज्ञानिकों में यह धारणा सैद्धान्तिक रूप से बद्धमूल हो गई कि भाषाविज्ञान का सम्बन्ध केवल ध्वनियों के अध्ययन से है,अर्थ से नहीं। चूँकि अर्थ का निर्धारण मनुष्य की इच्छा से होता है और उस इच्छा की कोई (अपनी) वैज्ञानिकता नहीं होती, इसलिए इन विद्वानों की यह धारणा और भी बद्धमूल हो गई कि भाषाविज्ञान में अर्थ का वैज्ञानिक अध्ययन सम्भव नहीं है। आजकल भारत में भी कुछ भाषावैज्ञानिक इसी धारणा के समर्थक बनते जा रहे हैं।

पर इस धारणा के रहते हुए भी भाषाविज्ञान में अर्थ का अध्ययन कभी रुका नहीं। अमेरिकन भाषाविज्ञान के जनक ब्लूमफील्ड की 'लेंग्वेज' नामक पुस्तक में भी अर्थ पर पर्याप्त विचार किया गया है। प्राय: हर भाषावैज्ञानिक ने अपने अध्ययन में अर्थविज्ञान को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। पर अर्थ का स्थान सीमित महत्त्व का ही माना जाता है। भाषाविज्ञान में अर्थ के अध्ययन के अन्तर्गत शब्द और अर्थ के परस्पर सम्बन्ध, अर्थपरिवर्तन के कारणों और अर्थपरिवर्तन की दिशाओं का अध्ययन ही प्रमुख रूप से होता है। ध्वनि नियमों के समान अर्थनियमों का अध्ययन भी कुछ भाषावैज्ञानिकों द्वारा किया गया है, पर इस अध्ययन को अब तक कोई विशेष-मान्यता और सफलता नहीं मिली है।

भारत में अर्थविज्ञान के अध्ययन का पूरा इतिहास प्राप्त होता है। अत्यन्त प्रारम्भिक काल में वैदिक शब्दों के कोष निघण्टु में अर्थ के आधार पर ही शब्दों का वर्गीकरण किया गया। फिर इसी वर्गीकरण के आधार पर निर्वचन शास्त्र का प्रवर्तन हुआ जिसकी श्रेष्ठतम अभिव्यक्ति यास्काचार्य के निरुक्त में हुई। परवर्ती काल में भी कोशों की रचना हुई। संस्कृत व्याकरण के दर्शन सम्बन्धी 'वाक्यदीप' आदि ग्रन्थों में भाषा का पूरा विवेचन अर्थ को केन्द्र में रखकर हुआ है। मीमांसादर्शन तो अपने अर्थ-विवेचन के लिए ही प्रसिद्ध हुआ है।

3. पदविज्ञान–यद्यपि ध्वनि भाषा के गठन में प्रारम्भिक मूलभूत महत्व का स्थान रखती है, तथापि भाषा की न्यूनतम इकाई तो वाक्य ही है–ऐसा हम पहले पाठ में भाषा के गठन के प्रसंग में कह आए हैं। इसी वाक्य का विभाजन जिन और भी अधिक छोटी इकाइयों में होता है, उन इकाइयों को पद कहा जाता है। पर पद के भाषा-वैज्ञानिक स्वरूप को जानने के लिए हमें इसका अध्ययन किसी दूसरे ढंग से करना पड़ेगा। भाषा विज्ञान की दृष्टि से प्रत्येक वाक्य में जितने भी शब्द होते हैं, उन्हें परस्पर बांधने वाले दो तत्त्व होते हैं–अर्थ तत्त्व और सम्बन्ध तत्त्व। जैसे 'राम: बाणेन रावणं अमारयत्' इस वाक्य में चार अर्थतत्त्व हैं–राम, बाण, रावण, मार और इन तत्त्वों को परस्पर जोड़ने वाले चार सम्बन्ध तत्त्व भी हैं–(राम) सु (बाण) टा (इन), (रावण) आम्, अ (मार्) अयत्। जब अर्थतत्त्व वाक्य में अपनी सोद्देश्यता स्थापित करने के लिए किसी सम्बन्ध तत्त्व को अपना लेता है तो वह पद बन जाता है।

इस प्रकार पद का अध्ययन स्वयमेव भाषाविज्ञान के अध्ययन का एक महत्त्वपूर्ण क्षेत्र बन जाता है। यद्यपि अभी पद के अध्ययन में आधुनिक भाषाविज्ञान ने कोई विशेष प्रगति नहीं की है, तथापि इस क्षेत्र के अध्ययन अर्थात् पदविज्ञान के अन्तर्गत विभिन्न पदवाची शब्दों, उनमें सम्बन्ध तत्त्व को स्पष्ट करने वाले विभक्तिप्रत्ययों और धातु-प्रत्ययों, उनके आदि, मध्य और अन्त में स्थापना होने से उत्पन्न होने वाले विभिन्न प्रकार के प्रभावों, ध्वनिप्रतिस्थापन, ध्वनिपुनरावृत्ति, रूपग्रामों, स्वरूपों आदि का अध्ययन होता है।

4. वाक्यविज्ञान–भाषा के गठन में वाक्य का स्थान सबसे अन्त में आने पर भी यह भाषा में इसलिए विशेष महत्वपूर्ण है क्योंकि अर्थसम्प्रेषण की दृष्टि से यह भाषा की न्यूनतम इकाई है। इसलिए भाषाविज्ञान के अध्ययन क्षेत्र में वाक्यविज्ञान के विषय में इतना निस्सन्देह कहा जा सकता है कि आधुनिक भाषाविज्ञान में इसकी अभी तक जितनी उपेक्षा हुई है, प्राचीन भारतीय भाषाविदों ने वाक्य पर उतना ही गहरा विचार किया है। व्याकरण शास्त्र हो, काव्यशास्त्र हो या मीमांसाशास्त्र, सभी शास्त्रों में वाक्य का सूक्ष्मातिसूक्ष्म विश्लेषण किया गया है। देखा जाये तो सारा व्याकरण-दर्शन वास्तव में वाक्यविज्ञान का ही दूसरा नाम है। वाक्यविज्ञान के अन्तर्गत वाक्य की परिभाषा, वाक्य के अनेक भेद, वाक्यार्थविचार आदि अनेक महत्व के विषयों पर विचार किया जाता है।

यद्यपि परम्परागत रूप से भाषाविज्ञान में ध्वनिविज्ञान, अर्थविज्ञान, पदविज्ञान और वाक्यविज्ञान का ही अध्ययन किया जाता है, तथापि इन चार प्रमुख पक्षों के अतिरिक्त कुछ गौण पक्ष भी हैं जिनका अध्ययन भाषाविज्ञान के द्वारा होता है। इनमें से एक विषय है–भाषा की उत्पत्ति का प्रश्न। भाषावैज्ञानिकों में इस बात पर गहरा मतभेद है कि क्या यह प्रश्न भाषाविज्ञान के अध्ययन क्षेत्र में आ सकता है या नहीं? प्राय: विद्वानों का ऐसा मानना है कि चूँकि इस प्रश्न पर कोई तथ्यसंगत विचार नहीं हो सकता इसलिए इसे भाषाविज्ञान का विषय भी नहीं माना जा सकता। पर फिर भी आश्चर्यजनक बात यह है कि प्राय: हर भाषाविद् ने इस विषय पर प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में विचार किया ही है।

भाषा की उत्पत्ति के बौद्धिक विकास के इस प्रश्न के अतिरिक्त भाषाविज्ञान भाषा से जुड़े कुछ अन्य महत्त्व के प्रश्नों का अध्ययन करता है। इनमें सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है भाषाओं का वर्गीकरण। भाषाओं का उनके परिवार और आकृति के आधार पर वर्गीकरण किया जाता है। इस वर्गीकरण की सहायता से भाषाओं के अध्ययन में तो सहायता मिलती ही है, अपितु इससे भाषाविज्ञान में तीन नए विषयों का भी जन्म हुआ है, जिन्हें हम क्रमशः 'भाषा कालक्रम विज्ञान', 'भाषिक भूगोल' और 'भाषाकेन्द्रित प्रगैतिहासिक खोज' कहते हैं। उदाहरण की सहायता से हम इसे समझने का प्रयास करते हैं। पारिवारिक और आकृतिमूलक वर्गीकरण के आधार पर जिस भारोपीय भाषा की खोज की गई है उसके आधार पर भारोपीय भाषाओं के शतम् और केन्तुम् ये दो उपविभाजन भी किए गए हैं। यह निष्कर्ष भी निकाला गया है कि भारत में भारोपीय भाषाओं का प्रयोग क्षेत्र कौन सा है और शेष भाषाएं कौन-कौन से परिवार की हैं। यह सारा विषय भाषिक भूगोल के अन्तर्गत आता है। दूसरी ओर जब भाषाओं के अध्ययन के आधार पर प्राचीनकाल के जीवन का चित्र खींचा जाए तो उसे भाषाकेन्द्रित प्रागैतिहासिक खोज माना जाएगा। जैसे संस्कृत भाषा में स्नातक, नदीष्ण, पारंगत, अभिषेक आदि शब्दों के रचनात्मक महत्त्व को देखते हुए यह कहा जाता है कि अत्यन्त प्राचीनकाल से आर्यसभ्यता का विकास नदियों के किनारे हुआ। भाषाकाल क्रम विज्ञान में शब्दों के प्रयोग, विकास और उनमें आए ध्वनि सम्बन्धी और अर्थ सम्बन्धी परिवर्तनों के आधार पर भाषा के विकासक्रम का कालनिर्णय किया जाता है। इसी के आधार पर विद्वानों ने वैदिक संस्कृत, लौकिक संस्कृत, पालि, प्राकृत, अपभ्रंश आदि विभिन्न भाषाओं के विषय में निर्णय करने का प्रयत्न किया है। अब तो क्रमशः शैलीविज्ञान, लिपिशास्त्र, मनोभाषाविज्ञान आदि अनेक नए-नए क्षेत्र भाषाविज्ञान के अध्ययन की परिधि में आते जा रहे हैं।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि भाषाविज्ञान का अध्ययन क्षेत्र बहुत व्यापक भी है और गहन भी है। भाषा का कोई भी ऐसा पक्ष नहीं है जिसे हम भाषाविज्ञान के अध्ययन का विषय नहीं मान सकते।

4. भाषाविज्ञान के अध्ययन की प्रणालियां

भाषाविज्ञान में भाषा का अध्ययन करने की तीन प्रणालियां है जिनके नाम हैं–विवरणात्मक (डिस्क्रिप्टिव), तुलनात्मक (कम्पेरेटिव) और ऐतिहासिक (हिस्टोरिकल)। इनमें से विवरणात्मक प्रणाली को सांकालिक या समकालिक (सिन्क्रानिक–Synchronic) भी कह दिया जाता है। भाषाविज्ञान में भाषा के चारों गठक तत्त्वों–ध्वनि, अर्थ, पद और वाक्य का अध्ययन, इन तीनों प्रणालियों के अन्तर्गत किया जाता है। इन सभी प्रणालियों का परस्पर और पृथक्-पृथक् इतना अधिक महत्त्व है कि भाषाविज्ञान में इनका स्वतन्त्र नामकरण भी किया गया है–विवरणात्मक भाषाविज्ञान, तुलनात्मक भाषाविज्ञान और ऐतिहासिक भाषाविज्ञान।

1. विवरणात्मक प्रणाली–जैसा कि ऊपर कहा गया है, व्याकरण और भाषाविज्ञान दोनों में भाषा का विवरण दिया जाता है। भाषा का विवरण देने के दो प्रकार हैं–एक में भाषा का विवरण केवल सूचनात्मक रहता है जबकि दूसरे में भाषा की संरचना की आन्तरिक व्यवस्था का विश्लेषण भी किया जाता है। उदाहरणतया, 'रामः गच्छति' दो खण्ड हैं–रामः एवं गच्छति, ये दोनों पद हैं। इनमें एक शब्दरूप है और दूसरा धातुरूप है। यह भाषा का विवरण है। पर जब हम इससे थोड़ा आगे बढ़कर राम और गम् (गच्छ्) इन दोनों खण्डों को अर्थतत्व मानकर और (राम) 'सु' तथा (गच्छ) 'अ+ति' को सम्बन्धतत्व मानकर उनका आन्तरिक विश्लेषण करते हैं, अर्थतत्व और सम्बन्धतत्वों के परस्पर सम्बन्ध की व्याख्या करते हैं और फिर सु और ति इन दो सम्बन्धतत्वों का परस्पर समवेत अध्ययन करते हैं तो यह भाषा का संरचनात्मक अध्ययन बन जाता है। इसी वैशिष्ट्य के आधार पर भाषावैज्ञानिक जैलिग एस. हैरिस ने संरचनात्मक भाषाविज्ञान को पृथक्प्रणाली मानने का आग्रह किया है। पर यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाए तो बिना संरचना के विश्लेषण के उसकी मात्र सूचना को भाषाविज्ञान की परिधि में रखना कठिन होगा, इसलिए विवरणात्मक और संरचनात्मक प्रणालियों को एक-दूसरे से पृथक् रखना सम्भव या उचित नहीं है। इसी आधार पर भाषाविज्ञान में विवरणात्मक और संरचनात्मक को पृथक् प्रणालियाँ न मानकर एक ही प्रणाली के दो पर्यायवाची नाम मान लिया जाता है।

विवरणात्मक अथवा संरचनात्मक भाषाविज्ञान को समकालिक या सांकालिक (साइनक्रौनिक) प्रणाली के नाम से भी अभिहित किया जाता है। यह नामकरण भी इस प्रणाली की एक विशेषता पर आधारित है। चूंकि विवरणात्मक प्रणाली में भाषा का मात्र विवरण अथवा विश्लेषण ही किया जाता है, इसलिए यह जीवित भाषाओं का ही हो सकता है, पुरानी या मृत भाषाओं का नहीं। पुरानी या मृत भाषाओं का अध्ययन कम वास्तविक होगा क्योंकि उसका केवल लिखित रूप ही सामने होता है जिसके आधार पर हम उसका अध्ययन कर पाते हैं। भाषा के अधिक रूपों के विवेचन के समय हम देख ही आए हैं कि जो बोली

लिखित साहित्य की भाषा के स्तर तक पहुंच जाती है वह मानकीकृत और अस्वाभाविक भाषा बन जाती है। इसलिए उसका अध्ययन पूर्ण वैज्ञानिक हो ही नहीं सकता। उसका केवल तुलनात्मक या ऐतिहासिक अध्ययन ही हो सकता है। इसलिए चूंकि विवरणात्मक प्रणाली में केवल जीवित समकालीन भाषा की संरचना का अध्ययन किया जाता है इसलिए उसे समकालिक अथवा सांकालिक कहा जाता है।

विवरणात्मक, वर्णनात्मक, संरचनात्मक या सांकालिक प्रणाली में जब भाषा का अध्ययन होता है तो वह मुख्य रूप से उसकी ध्वनियों का, ध्वनिप्रणालियों का, पदों का, पदसमूहों का और ध्वनिसम्बन्धी दूसरी विशेषताओं का अध्ययन ही होता है। अर्थ का उसमें सीमित महत्व होता है। चूंकि इसमें अध्ययन प्रमुख रूप से ध्वनिविषयक होता है, इसलिए इसमें अध्ययन के उपकरणों का पर्याप्त महत्व है। प्रसिद्ध भाषावैज्ञानिक एक ही भाषा का विवरणात्मक अध्ययन दो अलग-अलग स्थानों पर कर रहे हों तो भी उनके निष्कर्ष समान होंगे क्योंकि उन दोनों के अध्ययन के उपकरण समान होंगे और वे दोनों जीवित भाषाओं का वस्तुपरक अध्ययन कर रहे होंगे।

विवरणात्मक अध्ययन इतना अधिक वस्तुपरक और वैज्ञानिक हो सका है, इसका श्रेय मुख्य रूप से अमेरिकन भाषावैज्ञानिकों को जाता है। जैसा कि हमने पहले भी कहा है अमेरिकन भाषावैज्ञानिकों ने अमेरिका और अफ्रीका की अनेक बोलियों का, उन्हें जाने, समझे, पढ़े बिना उनका सटीक वैज्ञानिक अध्ययन किया है। किसी बोली को बोलने वालों के बीच रहना, उनकी आवाजें सुनना, फिर ध्वनियों का संग्रह करना, ध्वनियों के आधार पर ध्वनिसमूहों की पहचान करना, पदों की और पदसमूहों की पहचान, उनके आधार पर अर्थतत्व और सम्बन्ध तत्व का पृथक्करण और विश्लेषण और इन सबके बाद वाक्य तक पहुंचना—यह वह प्रणाली है जिसके आधार पर अमेरिकन भाषावैज्ञानिकों ने इन बोलियों का विश्लेषण इतना अधिक और इस तेजी से किया है कि भाषाविज्ञान में सबसे बाद में जन्मी इस प्रणाली को सबसे महत्वपूर्ण स्थान मिल गया है—यहां तक कि इसे 'लिंग्विस्टिक्स' का पर्यायवाची मान लिया गया है।

विवरणात्मक प्रणाली के इस प्रस्तुतीकरण से दो निष्कर्ष सहज ही निकाले जा सकते हैं। एक यह कि यह अध्ययन बहुत ही जीवन्त और गतिशील है। पाणिनि द्वारा अपने समय की जीवित भाषा संस्कृत का जो व्याकरण 'अष्टाध्यायी' के रूप में लिखा गया उसे विवरणात्मक भाषाविज्ञान का श्रेष्ठतम ग्रन्थ माना जाता है। अर्थ पर अति सीमित बल देते हुए पाणिनि ने संस्कृत के जीवित रूप का सूक्ष्म संरचनात्मक विश्लेषण किया है जो कई दृष्टियों से अमेरिकन भाषावैज्ञानिकों के लिए आदर्श का काम करता है। चूंकि विवरणात्मक भाषावैज्ञानिक अपना अध्ययन जीवित भाषाओं के अर्थनिरपेक्ष आकार तक सीमित रखता है इसलिए उसे उस भाषाओं के बोलने वालों के स्वभाव, समाज, इतिहास, साहित्य संस्कृति आदि के अध्ययन की कोई आवश्यकता नहीं होती जो तुलनात्मक और ऐतिहासिक अध्ययन में होती है। इसके विपरीत आधुनिक भाषाविज्ञान का जितना भी अध्ययन यांत्रिक उपकरणों से युक्त प्रयोगशाला में सम्भव है उसकी आवश्यकता विवरणात्मक भाषावैज्ञानिक को पड़ती ही है। संक्षेप में विवरणात्मक प्रणाली में—

1. जीवित भाषाओं और बोलियों का अध्ययन होता है।
2. इस अध्ययन में भाषा की संरचना का विश्लेषण किया जाता है।
3. संरचना के इस विश्लेषण में ध्वनिपक्ष पर ही अधिक बल होता है अर्थपक्ष पर नहीं।
4. अपने अध्ययन के विशिष्ट उपकरणों के कारण यह प्रणाली अधिक वस्तुपरक है।
5. इस प्रणाली का उपयोग करने वाले भाषावैज्ञानिक के लिए कोई जरूरी नहीं होता कि वह उन भाषा के प्रयोगकर्त्ताओं के इतिहास, साहित्य, संस्कृति आदि का भी विद्वान हो।
6. प्रयोगशालाओं के यान्त्रिक उपकरणों की सहायता इस प्रणाली में ली जा सकती है, और
7. कुल मिलाकर विवरणात्मक प्रणाली अति गतिशील है।

2. तुलनात्मक प्रणाली—विवरणात्मक प्रणाली को पूरी तरह से समझ लेने के बाद तुलनात्मक और ऐतिहासिक प्रणाली को समझना अपेक्षाकृत सरल हो जाता है। विवरणात्मक और तुलनात्मक प्रणाली में प्रमुख और मूलभूत अन्तर यह है कि जहां विवरणात्मक प्रणाली में एक समय में केवल एक ही भाषा का अध्ययन किया जाता है, वहां तुलनात्मक प्रणाली में एक से अधिक भाषाओं की आवश्यकता हर क्षेत्र में होती है। हां इतना अवश्य है कि कुछ तुलनात्मक अध्ययन इस प्रकार के भी हो सकते हैं कि उसमें आधारभूत भाषा एक हो, और तुलना के लिए दूसरी भाषा या भाषाओं से संकेत अथवा उदाहरण ले लिए गये हों।

तुलनात्मक प्रणाली में भाषाओं का अध्ययन दोनों प्रकार से हो सकता है। विवरणात्मक प्रणाली के समान यह हो सकता है कि संरचना का विश्लेषण मात्र किया जाए और दूसरी भाषाओं की संरचना से उसकी तुलना कर दी जाए। पर इसे श्रेष्ठ तुलनात्मक अध्ययन नहीं माना जाएगा। सम्पूर्ण तुलनात्मक अध्ययन में भाषा के सभी पक्षों ध्वनि, अर्थ, पद और वाक्य का अध्ययन भी होगा। यदि अवेस्ता और वेदों की भाषा की तुलना की जाती है तो अवेस्ता के हुः ओम या हफ्त की तुलना वेदों के सोम और सप्त के साथ तभी संगत होगी यदि उनका समान अर्थसम्बन्धी आधार भी सिद्ध हो रहा हो। यही स्थिति वाक्यों के तुलनात्मक आधार की भी कही जा सकती है क्योंकि तभी हम दो भाषाओं के समान पारिवारिक अथवा आकृतिमूलक वर्गीकरण का निश्चय कर सकते हैं। इसलिए यह संभव नहीं कि विवरणात्मक प्रणाली केवल ध्वनिविश्लेषण पर ही पूर्णतः या अधिकांशत सीमित रहे।

तुलनात्मक प्रणाली की एक दूसरी विशेषता भी है जो पहली विशेषता से सम्बद्ध है। यह आवश्यक नहीं है कि इस प्रणाली में केवल जीवित भाषाओं और बोलियों की ही तुलना की जाए। इसके विपरीत प्रायः ऐसा देखा जाता है कि इस प्रणाली में भाषा के लिखित रूपों का ही अधिकाधिक अध्ययन होता है और जब कभी जीवित भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन किया जाता है तो वहां भी उनके इतिहास में गम्भीर रूप से प्रवेश किए बिना नहीं रहा जा सकता। उदाहरणतया, यदि कोई भाषावैज्ञानिक आज की हिन्दी और आज की मराठी अथवा किसी दूसरी भारतीय आर्यभाषा की तुलना करता है तो वह इन दोनों भाषाओं के ऐतिहासिक विकास और उनके मूल स्रोत संस्कृत के साथ दोनों की तुलना किए बिना रह नहीं सकता। और इस तुलना में वह इन भाषाओं के जीवित उच्चार्यमान रूप पर कम और उनके ऐतिहासिक रूप पर अधिक निर्भर करेगा।

इसी आधार पर एक निष्कर्ष यह भी निकाला गया है कि जहां विवरणात्मक प्रणाली के आधार पर होने वाले भाषाई विश्लेषण में भाषावैज्ञानिक को उस भाषाविशेष और उसके बोलने वालों के समाज, इतिहास, साहित्य संस्कृति आदि के ज्ञान की कोई आवश्यकता नहीं होती वहां तुलनात्मक प्रणाली इस समूचे ज्ञान के बिना विश्वसनीय परिणामों पर पहुंच ही नहीं सकती। किन्हीं दो भाषाओं में एक ही शब्द की पृथक् ध्वनि के लिए वहां के जलवायु का, विभिन्न शब्दों के आगमन के लिए बाह्य आक्रमणों और इतिहास का, विभिन्न प्रयोगों के लोप के कारण ढूंढने के लिए सांस्कृतिक उत्थान पतन का, शब्दों के अर्थपरिवर्तन के कारण ढूंढने के लिए सामाजिक दृष्टिकोण का, वाक्यों का मुहावरा समझने के लिए उस भाषा के साहित्य का अध्ययन करना अनिवार्य होता है। इसलिए जहां विवरणात्मक भाषावैज्ञानिक की दृष्टि एक तकनीशियन की होती है वहां तुलनात्मक भाषावैज्ञानिक की दृष्टि एक विद्वान अनुसन्धाता की होती है। यही कारण है कि जहां तुलनात्मक अध्ययन करने वाले भाषावैज्ञानिक विश्वख्याति के विद्वान हुए हैं वहां विवरणात्मक प्रणाली के भाषावैज्ञानिक प्रायः स्थानीय महत्त्व के व्यक्ति रहे हैं।

चूंकि तुलनात्मक प्रणाली में भाषा के साहित्यिक और लिखित रूपों का अध्ययन ही अधिकांशतः होता है, इसलिए उसमें प्रकाशित पुस्तकों और प्रयुक्त की गई भाषाओं को ही आधार बनाया जाता है। इस प्रणाली में प्रयोगशालाओं और यान्त्रिक उपकरणों की भूमिका सीमित या फिर नगण्य है। इसलिए जहां विवरणात्मक प्रणाली को गत्यात्मक या गतिशील कहा जाता है वहां तुलनात्मक प्रणाली को स्थित्यात्मक या स्थितिशील कहा जाता है।

तुलनात्मक प्रणाली के सम्बन्ध में जानने योग्य एक ऐतिहासिक महत्त्व का तथ्य यह है कि यद्यपि आधुनिक भाषाविज्ञान का जन्म इसी प्रणाली की सहायता से हुआ किन्तु आज विश्व में विवरणात्मक प्रणाली का ही बोलबाला है। सन् 1786 में सर विलियम जोंस ने संस्कृत, ग्रीक और लेटिन में ध्वनि, अर्थ और वाक्य सम्बन्धी कई समानताएं पाईं। समानताओं का जब वैज्ञानिक स्तर पर अध्ययन हुआ तो ज्ञात हुआ कि ये तीनों भाषाएं एक ही परिवार की हैं और किसी समान मूल स्रोत से उत्पन्न हुई हैं। इस अनुसन्धान ने विश्व को भारोपीय भाषापरिवार और मूल भारोपीय भाषा से परिचित करवाया। लगभग डेढ़ शताब्दी तक विश्व में इस प्रणाली का वर्चस्व छाया रहा। पर जब से अमेरिकन सम्प्रदाय ने संगठित होकर और विशाल स्तर पर विवरणात्मक प्रणाली का आश्रय लेकर विश्व की अनजानी और कबीलाई बोलियों का वैज्ञानिक अध्ययन करना प्रारम्भ किया तब से भाषाविज्ञान में तुलनात्मक प्रणाली का प्रभाव अपेक्षाकृत कम हो गया है।

3. ऐतिहासिक प्रणाली—इन दोनों प्रणालियों से पृथक्, किन्तु इन दोनों प्रणालियों से सहायता लेकर विकसित होने वाली अध्ययन प्रणाली का नाम ऐतिहासिक प्रणाली है। इसका प्रभाव भाषाविज्ञान जगत् पर सबसे कम रहा है। इस प्रणाली में विवरणात्मक और तुलनात्मक प्रणालियों का आश्रय लेकर किसी एक भाषा का ऐतिहासिक अध्ययन प्रस्तुत किया जाता है। कोई भाषा कब प्रारम्भ हुई, उसका मूल स्रोत क्या है, उसने विकास की कितनी अवस्थाएं पार की हैं, किस अवस्था में उसका क्या रूप था

और उसमें क्या परिवर्तन आए, इस सबका अध्ययन पराश्रित है। क्योंकि जब तक उस भाषा की विभिन्न अवस्थाओं का, जिनका विकास पृथक्-पृथक् कालखण्डों में हुआ है, विवरणात्मक अध्ययन न हो चुका हो तब तक, उस भाषा का सम्पूर्ण और क्रमपूर्वक ऐतिहासिक अध्ययन करना सम्भव नहीं होता। यहां भी कठिनाई यह है कि भाषा की प्राचीन अवस्थाओं का विवरणात्मक अध्ययन भाषा के निश्चित और उच्चार्यमाण रूपों पर आधारित न होकर उसके लिखित रूपों पर ही आश्रित रहेगा। इस प्रकार विवरणात्मक प्रणाली पर ऐतिहासिक प्रणाली की निर्भरता स्पष्ट है।

कुछ अंशों में यह प्रणाली तुलनात्मक प्रणाली पर भी निर्भर करती है। क्योंकि किसी भी विशेष भाषा के विभिन्न कालखण्डों में विकसित और प्रचलित रूपों में क्रमशः हुए ध्वनिपरिवर्तनों और अर्थपरिवर्तनों का कारण विवेचन करने के लिए उसे तुलनात्मक प्रणाली का आश्रय लेना ही पड़ेगा। और इस प्रणाली का भली प्रकार से उपयोग करने के लिए ऐतिहासिक प्रणाली के भाषावैज्ञानिक को उस भाषा और उसे बोलने वालों के समाज, इतिहास, भूगोल, राजनीति, साहित्य, संस्कृत आदि का प्रकाण्ड ज्ञान होना आवश्यक है अन्यथा उसके द्वारा निकाले गए परिणाम अपरिपक्व हो सकते हैं।

यद्यपि भाषाविज्ञान में भाषा अध्ययन की ये तीन प्रणालियां हैं पर महत्त्व की दृष्टि से विवरणात्मक प्रणाली का स्थान सबसे ऊपर है क्योंकि तुलनात्मक अध्ययन हो या ऐतिहासिक अध्ययन हो इन दोनों में ही विवरणात्मक प्रणाली की सहायता से किए गए संरचनात्मक विश्लेषण की आवश्यकता अनिवार्य रूप से रहती है।

पाठ-3
भाषा की उत्पत्ति और परिवर्तनशीलता

-डॉ. सूर्यकान्त बाली

1. भाषा की उत्पत्ति

भाषाविज्ञान के अध्ययन के क्षेत्रों पर विचार करते समय यह कहा जा चुका है कि भाषावैज्ञानिकों में इस बात पर तीव्र मतभेद है कि भाषा की उत्पत्ति का प्रश्न भाषाविज्ञान के अध्ययन क्षेत्र में आता है या नहीं। अधिकतर भाषाविदों की यही धारणा है कि इस प्रश्न का सम्बन्ध चूँकि खोज या वैज्ञानिक विश्लेषण के साथ न होकर केवल बुद्धि विलास से है, इसलिए इसे भाषाविज्ञान का विषय नहीं माना जा सकता। भाषा की उत्पत्ति या भाषा का प्रयोग क्यों हुआ-इस प्रश्न का सन्तोषजनक उत्तर देना तो संभव है, परन्तु भाषा की उत्पत्ति कैसे हुई? इस प्रश्न का उत्तर देना सम्भवतः एक दुष्कर कार्य है पर आश्चर्य का विषय यही है कि भाषाविज्ञान पर किए गए हर अध्ययन में इस प्रश्न पर विचार किया गया है और यह विचार उन विद्वानों द्वारा भी किया गया है जिन्होंने इसे भाषाविज्ञान का विषय तक स्वीकार नहीं किया है। परिणामस्वरूप विभिन्न कालों में विद्वानों ने अलग-अलग सिद्धान्तों और धारणाओं को प्रस्तुत किया जिनका संक्षिप्त विवेचन यहां दिया जा रहा है।

1. दैवी उत्पत्ति का सिद्धान्त-यह सिद्धान्त भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में सम्भवतः सबसे प्राचीन सिद्धांत है। मानव जाति ने अति प्राचीन काल से इस सिद्धान्त को सिद्धान्त के रूप में नहीं अपितु एक विशेष प्रकार की श्रद्धा और विश्वास के रूप में माना है कि भाषा की उत्पत्ति ईश्वर ने स्वयं की है। वेदों में भाषा को दैवी वाक् कहा गया है तथा उसे विश्वरूपा माना गया है जिसे सभी प्राणी बोलते हैं-**"दैवी वाचमननपन्त देवाः। तां विश्वरूपां पशवो वदन्ति"**। ईश्वर ने स्वय यह वाणी मनुष्य को दी, ऐसा भी वेदों में कहा गया है-

"इमां वाचं कल्याणी। आ वदानि जनेभ्यः।"

मनुस्मृतिकार ने कहा है कि सृष्टि के प्रारम्भ में ही ईश्वर ने वेदों में सभी के नाम-कर्म स्थिर कर दिए-

"सर्वेषां तु स नामानि। कर्माणि च पृथक् पृथक्।
वेदे शब्देभ्य एवादौ। पृथक् संस्थाप्य निर्ममे।"

यहूदी लोग भी हिब्रू भाषा को ईश्वर प्रदत्त और आदिभाषा मानते हैं। जैन सम्प्रदाय में तो यह विश्वास प्रचलित है कि ईश्वर ने अर्धमागधी की रचना की तथा समग्र पशुपक्षी भी इसी भाषा को बोलते हैं। परम्परावादी हिन्दू संस्कृत को 'देवभाषा' कहते ही हैं।

वास्तव में भाषा को साक्षात् ईश्वर के द्वारा मनुष्य को दिया जाना किसी सिद्धान्त का नहीं अपितु विश्वास का विषय बन सकता है। इसे एक सिद्धांत मान लेने पर हमारे सामने कई प्रकार की समस्याएं आ जाती हैं जिनका समाधान संभव नहीं दिखाई देता। सबसे पहले तो इस बात का कोई प्रमाण हमारे पास नहीं है कि ईश्वर ने मनुष्य को भाषा प्रदान की। और, यदि भाषा ईश्वर ने बनाई होती तो सारे संसार में एक ही भाषा होती। जिस प्रकार हमें आज सैकड़ों भाषाएं और हजारों बोलियाँ सुनाई देती हैं, वैसा न होता। पूरे संसार में सभी मनुष्य एक ही भाषा बोलते। एक समस्या यह भी है कि इस प्रकार की भाषा में कभी कोई परिवर्तन नहीं आता और सभी कालों में भाषा का रूप एक-सा ही रहता। फिर, मनुष्य की यह ईश्वरीय भाषा पैदा होते ही प्राप्त हो जाती और उसे समाज में रहकर अनुकरण के माध्यम से यह भाषा सीखनी न पड़ती। जर्मनी के भाषाविद् प्राध्यापक हर्डर ने यह तर्क दिया है कि यदि ईश्वर ने मनुष्य के लिए भाषा का निर्माण किया होता तो यह भाषा अधिक सुव्यवस्थित और तर्कसंगत होती। उसमें वे अन्तर्विरोध और असंगतियां न होतीं जो आज इसमें प्राप्त होती हैं।

2. धातु-सिद्धान्त-भाषा की उत्पत्ति के विषय में धातु-सिद्धान्त का स्थान पर्याप्त महत्त्वपूर्ण है। ऐसा माना जाता है कि यूरोप में सबसे पहले प्लेटो ने इस धारणा की ओर संकेत किया था, पर वे इसे सैद्धान्तिक आकार न दे पाए। प्राध्यापक हेस और डॉ. स्टाइन्थाल ने इस सिद्धान्त को व्यवस्थित रूप दिया। प्रो. मेक्समूलर ने इस सिद्धान्त को रणनवाद (Ding Dong Theory) का नाम दिया और दार्शनिकों ने उसे नेटेविस्टिक थ्योरी (Nativistic theory) के रूप में प्रस्तुत किया है।

इस सिद्धान्त के अनुसार प्रारम्भ में मनुष्य में एक ऐसी सहज प्रतिभा थी कि वह किसी धातु से उत्पन्न होने वाली ध्वनि को तुरन्त ग्रहण कर उसे सार्थक धातु के रूप में निहित कर लिया करता था और धीरे-धीरे इन्हीं धातुओं से भाषा की उत्पत्ति हुई। ऐसा माना गया है कि प्रत्येक धातु अथवा वस्तु चोट पड़ने पर एक विशेष प्रकार की ध्वनि को उत्पन्न करती है। प्रारम्भिक मानव ने अपनी अपूर्व सहज प्रतिभा के बल पर इन ध्वनियों को ग्रहण किया और अपनी उसी प्रतिभा के बल पर उसमें अर्थ का भी आधान किया। प्रारम्भ में इस प्रकार 400-500 सार्थक धातुएं बन गई और इन्हीं धातुओं से भाषा बनी। बाद में आवश्यकता न होने के कारण मनुष्य में इस प्रकार की धातुओं की रचना करने की शक्ति भी समाप्त हो गई।

यद्यपि कुछ पृथक् रूप में ही सही, भारत में भी धातुओं से भाषा की उत्पत्ति का सिद्धान्त काफी समय तक प्रचलित रहा। शाकटायन ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। यास्क अपने निरुक्त में कहते हैं–

"सर्वाणि नामान्याख्यातजानि इति शाकटायनः।"

बाद में पतंजलि ने महाभाष्य में इस सिद्धान्त का उपहास करते हुए कहा–

"नाम च धातुजमाह निरुक्ते। व्याकरणे शकटस्य च तोकम्।"

इस सिद्धान्त के विरुद्ध अनेक आपत्तियां उठाई गई हैं। सबसे पहली आपत्ति यह की जाती है कि आदिम मानव में धातुओं से ध्वनियां ग्रहण करने तथा इन्हें अर्थ से युक्त कर लेने की क्षमता विद्यमान थी, इसका कोई बुद्धिसंगत प्रमाण हमारे सामने नहीं आता। दूसरी आपत्ति यह है कि केवल धातुओं से ही भाषा नहीं बन जाती, इसमें विकरण, प्रत्यय आदि भी आवश्यक होते हैं जिनके बारे में यह सिद्धान्त मौन है। फिर अब तो भाषाविदों ने शोध के आधार पर यह सिद्ध कर ही दिया है कि धातुओं और प्रत्ययों की कल्पना भाषा के विश्लेषणकर्त्ताओं ने बाद में की है। भर्तृहरि ने भी 'वाक्यप्रदीप' में पदों के धातुप्रत्ययात्मक विश्लेषण को काल्पनिक और सुविधा के लिए आवश्यक माना है। सबसे बड़ी आपत्ति तो यह की जाती है कि संसार में अनेक भाषाएं ऐसी हैं जिनमें धातु हैं ही नहीं–उनकी उत्पत्ति के बारें में इस सिद्धान्त में कुछ भी नहीं कहा गया है। इन सभी कारणों के आधार पर इस सिद्धान्त को सर्वमान्यता प्राप्त नहीं हुई है।

3. अनुकरण सिद्धान्त–इस सिद्धान्त में अभी मूलतः यह धारणा काम कर रही है कि मनुष्य ने भाषा की उपलब्धि बाह्य तत्त्वों से प्राप्त की। प्रकृति के अनेक तत्त्वों–जड़ और चेतन–की अनेकानेक ध्वनियां सुनकर और उनकी अवस्थाओं का अनुसरण करते हुए मनुष्य ने अपनी भाषा का निर्माण किया। कुत्ते-बिल्ली-गाय आदि की आवाजें सुनकर मानव ने तद्नुरूप क्रियाओं और संज्ञाओं की रचना की। नदी के बहाव की और पत्ते के गिरने की ध्वनि सुनकर मनुष्य ने उनके अनुरूप, नद्, भद् और पत् आदि शब्दों का प्रयोग प्रारम्भ किया। इस प्रकार के अनुकरण को वेद के आधार पर भाषा की उत्पत्ति मानने वाले विद्वानों ने अनुकरण सिद्धान्त, Imitative theory, Onomotopoeic theory अथवा Echoic theory कहा है। प्राध्यापक मैक्समूलर ने इसे मज़ाक में Bow Bow-theory, अर्थात् कुत्ते के भौंकने के आधार पर भौं-भौं सिद्धान्त कहा है। पॉल, हर्डर, ह्विले आदि भाषाविदों ने इस सिद्धांत को माना है। पर रेनन ने इस सिद्धान्त का घोर विरोध किया है। इनकी मुख्य आपत्ति यह है कि भाषा सदृश अत्यन्त सूक्ष्म उपकरण के आविष्कारक बुद्धिमान् मनुष्य ने भाषा को निर्जीव पदार्थों अथवा पशुपक्षियों से सीखा होगा–यह संभव ही नहीं है। इस सिद्धान्त के विरुद्ध दूसरी आपत्ति यह भी की जाती है कि यदि यह सिद्धान्त मान भी लें तो भी इसकी सहायता से बनने वाले शब्द भाषा के एक या दो प्रतिशत अंश की ही पूर्ति करते हैं। सम्पूर्ण भाषा की उत्पत्ति का समाधान इस सिद्धान्त से नहीं हो पाता। फिर अनुकरण के आधार पर बनने वाले शब्द सभी भाषाओं में एक से क्यों नहीं हैं–इस प्रश्न का उत्तर भी इस सिद्धान्त से प्राप्त नहीं होता।

4. मनोभावाभिव्यक्ति सिद्धान्त–भाषा की उत्पत्ति के प्रश्न का समाधान करने के लिए जिन सिद्धान्तों की स्थापना की गई है उनका वर्गीकरण तीन प्रकार से हो सकता है। पहले वर्ग में दैवी उत्पत्ति सिद्धान्त आता है जिसमें भाषा की उत्पत्ति का स्रोत इहलोक से दूर किसी अदृश्य शक्ति में ढूंढने का प्रयास किया गया है। दूसरे वर्ग में धातु सिद्धान्त और अनुकरण सिद्धान्त को रख सकते हैं जिसमें मनुष्य के इस सशक्त उपकरण की उत्पत्ति प्राकृतिक पदार्थों में ढूंढी गई है–अर्थात् खोज करने वाले प्रथम, काल्पनिक वर्ग से दूसरे, व्यावहारिक रूप में आए हैं–परन्तु मनुष्य से अभी भी दूर हैं और प्रकृति में ही इस समस्या का समाधान खोज रहे हैं। तीसरे वर्ग में हम जिन सिद्धान्तों को रखना चाहते हैं वह वर्ग मनुष्य के आस-पास रहकर इस समस्या का समाधान ढूंढता है। इस वर्ग में हम मनोभावाभिव्यक्ति सिद्धान्त, श्रमध्वनिसिद्धांत, सम्पर्क सिद्धान्त आदि को रख सकते हैं। संक्षेप में, भाषा की उत्पत्ति के समाधान का सम्बन्ध क्रमशः दैवी जगत, प्रकृति और मानव के साथ जोड़कर देखा जाता रहा है।

मनोभावाभिव्यंजकवाद को अंग्रेजी में Pooh Pooh Theory या Interjectional Theory भी कहा जाता है। इस सिद्धान्त में भाषा की उत्पत्ति को मानव के मनोभावों के साथ जोड़कर देखा गया है। ऐसा माना गया है कि यद्यपि मनुष्य विचारशील प्राणी है तथापि प्रारम्भिक काल में उसमें मनोभावों की ही प्रधानता थी। विभिन्न प्रकार की परिस्थितियां उत्पन्न होने पर मनुष्य स्वयमेव सहज रूप से क्रोध, प्रेम, करुणा, प्रसाद, आश्चर्य, दुःख आदि को अभिव्यक्त करने के लिए आह, ओह, अहो, धिक् आदि अनेक प्रकार की अभिव्यंजक ध्वनियां निकाला करता था जिनसे भाषा की उत्पत्ति हुई। पर इस सिद्धांत में सबसे बड़ी कमी यही है कि इस प्रकार के मनोभावाभिव्यंजक शब्द भाषा में होते ही कितने हैं? अतः इस सिद्धांत में भाषा की उत्पत्ति सदृश सम्पूर्ण प्रश्न का सम्पूर्ण समाधान प्राप्त नहीं होता।

5. **श्रमध्वनिसिद्धांत**–इस सिद्धान्त को मनोभावाभिव्यक्तिवाद का ही रूपान्तर कह सकते हैं। जहां मनोभावाभिव्यक्ति सिद्धान्त में भाषा का सम्बन्ध मनोभावों के आवेग से उत्पन्न ध्वनि-प्रतीकों से जोड़ा गया है वहां श्रमध्वनिवाद में भाषा का सम्बन्ध शारीरिक श्रम के परिणामस्वरूप जन्म लेने वाले ध्वनिप्रतीकों से जोड़ा गया है। इस वाद की स्थापना नाएरे (Niere) ने की थी और इंग्लिश में उसे Yo-he-ho-theory कहा जाता है। मनुष्य जब कोई ऐसा कार्य कर रहा होता है जिसमें अतिरिक्त शारीरिक श्रम की आवश्यकता पड़ती है तो उस समय श्वासप्रक्रिया काफी तेज़ हो जाती है जिसके परिणामस्वरूप स्वरतन्त्रियों में कम्पन बहुत अधिक बढ़ जाता है और विशेष प्रकार की ध्वनियां मुंह से निकलती हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार ऐसा माना जाता है कि मनुष्य को भाषा का प्रयोग करने की प्रेरणा इन्हीं श्रममूलक ध्वनियों से मिली।

इस सिद्धान्त के विरुद्ध भी सबसे बड़ी आपत्ति वही उठाई जाती है जो मनोभावाभिव्यक्तिवाद के विरुद्ध की जाती है। इस सिद्धांत में जिस प्रकार की शब्दावलि से भाषा की उत्पत्ति मानी जाती है वह भाषा के अत्यन्त स्वल्प अंश की पूर्ति करती है। इसलिए असीम भाषा-कलेवर का निर्माण इस स्वल्प शब्दावलि के आधार पर नहीं हो सकता। धोबियों की श्रममूलक 'छियो-छियो' या श्रमिकों की 'या-हे' के आधार पर भाषा की उत्पत्ति को तर्कसंगत नहीं ठहराया जा सकता।

6. **सम्पर्कसिद्धान्त**–ऐसा कहना अनुचित न होगा कि भाषा की उत्पत्ति के प्रश्न के सम्बन्ध में सबसे अधिक गम्भीर प्रयास इस सिद्धान्त के माध्यम से हुआ है जिसकी स्थापना मनोविज्ञान के प्रतिष्ठित विद्वान् जी.रेवेज़ (G. Revez) ने की है। इस सिद्धान्त में मनुष्य की सम्पर्क करने की सहज प्रवृत्ति को आधार बनाकर विचार सरणि का प्रतिपादन किया गया है। रेवेज़ के अनुसार सम्पर्क (contact) करना मानव की सहज प्रवृत्ति है। प्रारम्भ से ही मनुष्य अपनी इस प्रवृत्ति के वशीभूत होकर अनेक कार्यकलाप करता रहा है। भाषा का विकास भी रेवेज़ ने इसी प्रवृत्ति का परिणाम माना है। मनुष्य की इस सम्पर्क-प्रवृत्ति का आकलन रेवेज़ ने दो स्तरों पर किया है। प्रथम स्तर में मानव में भावनात्मक सम्पर्क ही प्रबल रहा होगा, दूसरे स्तर में पहुंचकर विचार के पटल पर भी सम्पर्क हुआ होगा। भाषा का विकास भी इन्हीं दो सम्पर्क स्तरों पर हुआ, भावनात्मक सम्पर्क से भाषा के प्रारम्भिक रूप का ही विकास हुआ, एवं विचारात्मक सम्पर्क के स्तर पर भाषा का परिनिष्ठित रूप विकसित हुआ। पहले स्तर पर भूख के कारण चिल्लाना, दुःख में सिसकना, क्रोध में दहाड़ना, कामेच्छा के समय भावुक ध्वनियों का निःसरण आदि ध्वनियां प्रयोग में लाई जानी प्रारम्भ हुईं। यद्यपि आपाततः इस सिद्धान्त में कुछ शक्ति दिखाई देती है, तथापि केवल मनोविज्ञान पर आधारित रहने के कारण इसे एकांगी भी ठहराया जा सकता है।

7. **समन्वितिवाद**–अब तक भाषा की उत्पत्ति के प्रश्न से जुड़े हुए कुछ महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों का विवेचन किया गया है। इसके अतिरिक्त कुछ अन्य छोटे तथा अमहत्त्वपूर्ण सिद्धान्त भी इस प्रसंग में प्रस्तुत किए गए है जिन्हें निर्णयसिद्धान्त, इंगितसिद्धान्त, विकासवादीसिद्धान्त आदि नामों से जाना जाता है। निर्णयसिद्धान्त के अनुसार प्रारम्भिक मानव ने भाषा के अभाव में आने वाली कठिनाइयों से छुटकारा पाने के लिए सामूहिक निर्णय के परिणामस्वरूप भाषा का प्रयोग करना प्रारम्भ किया। इंगितसिद्धान्त भाषा की उत्पत्ति को अत्यन्त आदिम संकेत भाषा में ढूंढने का प्रयास करता है। विकासवादीसिद्धान्त में मानव के विकास के समान भाषा के भी क्रमिक विकास की परिकल्पना की गई है। स्पष्ट है कि इनमें से कोई भी सिद्धान्त या वाद भाषा की उत्पत्ति के प्रश्न का पूर्ण समाधान प्रस्तुत नहीं करता। कुछ विद्वानों की यह धारणा है कि भाषा की उत्पत्ति मानव जाति के इतिहास में उस समय (क्षण) हुई होगी जब मानव को सहसा ऐसा आभास हुआ होगा कि अपनी विचारप्रणाली और ध्वनिप्रणाली के परस्पर संयोग से वह अपने भाव एवं विचार दूसरे पर व्यक्त कर सकता है।

पर, वास्तविकता यह है कि भाषा की उत्पत्ति के प्रश्न का समाधान इन सिद्धान्तों, वादों अथवा विचारों में अकेले-अकेले नहीं है, इनके समन्वित रूप में है। ईश्वरीय प्रेरणा, बाह्य प्रकृति का प्रभाव, मनोभावों का आवेग, शारीरिक श्रम की विवशता,

वैचारिक स्तर का दबाव–इन सभी के मिश्रित प्रभाव के परिणामस्वरूप भाषा की उत्पत्ति शनैः शनैः परन्तु निश्चित रूप में होती रही। जो विद्वान् इस प्रकार के सिद्धान्त की खोज में हैं जो भाषा की सहसा उत्पत्ति का प्रश्न सुलझा सके, उन्हें सम्भवतः निराशा का सामना करना पड़ सकता है। भाषा का उपलब्ध इतिहास भी यही सिद्ध करता है कि भाषा के विकास का आधार उसकी परिवर्तनशीलता है और प्रत्येक भाषा में परिवर्तन शनैः शनैः निश्चित रूप से आता है। भाषा की उत्पत्ति का दर्शन भी इसी परिप्रेक्ष्य में निर्मित करना स्वाभाविक और वैज्ञानिक प्रतीत होता है।

2. भाषा की परिवर्तनशीलता

"भाषा का स्वरूप" शीर्षक वाले पहले पाठ में भाषा की विशेषताओं का विश्लेषण करते हुए भाषा की परिवर्तनशीलता को उसकी एक उल्लेखनीय विशेषता कहा गया है। वस्तुतः भाषा की परिवर्तनशीलता ही भाषा-विकास का आधार है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि भाषा में निरन्तर परिवर्तन आता रहता है। जिस भाषा का प्रयोग हम आज कर रहे हैं उसका वही प्रयोग कुछ दशाब्दी पूर्व नहीं था और कुछ दशाब्दियों के बाद उसका वह प्रयोग नहीं रह पाएगा। अपनी पुस्तक "भाषाविज्ञान पर भाषण" में मैक्समूलर ने भाषा की परिवर्तनशीलता का उदाहरण देते हुए एक सुन्दर उदाहरण दिया है कि मध्य-अमेरिका में ईसाईयत का प्रचार करने के लिए गए हुए पादरियों ने वहां रहकर बहुत परिश्रम से हुरौन और इरोकोइस जातियों की भाषाओं का एक शब्दकोश तैयार किया परन्तु दस वर्ष बाद जब वे ही पादरी पुनः उन क्षेत्रों में गए तो उन्होंने पाया कि उनके शब्दकोश में संग्रहित अनेक शब्दों की ध्वनियां और अर्थ बदल चुके थे।

इस उदाहरण में जहां भाषा की परिवर्तनशीलता का तथ्य प्रमाणित होता है वहां उसके कारण से भी हमारा परोक्ष परिचय हो जाता है। वह यह है कि–भाषा में परिवर्तन उसके प्रयोग के कारण होता है। जो भाषा जितना अधिक प्रयोग में लाई जाएगी, उस भाषा में उतना अधिक परिवर्तन होगा। परन्तु जहां एक ओर यह परिवर्तन अवश्यंभावी है वहीं दूसरी ओर इस परिवर्तन की परिधि का निर्धारण प्रयोगकर्ताओं के मानसिक-शैक्षिक स्तर से ही होता है। उपर्युक्त उदाहरण से स्पष्ट है कि जिन जातियों की भाषाओं का शब्दकोश उन प्रचारक पादरियों ने तैयार किया था उन जातियों के लोग अशिक्षित तो थे ही, सभ्यता से भी उनका परिचय स्वल्प रहा था, इस प्रकार के प्रयोगकर्त्ताओं के मध्य भाषा का परिवर्तन बहुत तीव्र गति से और बहुत अधिक होता है। इसके विपरीत सुशिक्षित, सुसंस्कृत समाज में परिवर्तन की गति और मात्रा दोनों पर अंकुश लगा रहता है; पर परिवर्तन होता अवश्य है। अतः जहां ग्रामीण क्षेत्रों अथवा अरण्य क्षेत्रों की बोलियों में परिवर्तन बहुत अधिक होता है वहां साहित्यिक भाषा में परिवर्तन बहुत कम होता है। पुरानी क्लासिकल भाषाओं में तो परिवर्तन और भी कम होता है क्योंकि उनके प्रयोगकर्ता संख्या में तो इने-गिने रहते ही हैं, शिक्षा की दृष्टि से भी वे बढ़े-चढ़े रहते हैं। इस प्रकार प्रयोगकर्ता ही भाषा परिवर्तन का प्रमुख कारण है।

यहां यह प्रश्न उठ सकता है कि प्रयोगकर्ता किन कारणों से सम्प्रेषित होकर भाषा परिवर्तन का वाहक बन जाता है। इसके अनेक कारण हैं जिनकी मीमांसा आवश्यक है। अनुकरण की अपूर्णता इसका एक प्रमुख कारण है। ऊपर कहा गया है कि भाषा मनुष्य को समाज में रहकर स्वयं अर्जित करनी पड़ती है और मनुष्य यह अर्जन अनुकरण के द्वारा करता है। अनुकरण, अनुकरण ही होता है; उसके अनुकार्य के समान होने में संदेह बना रहता है। चूंकि प्रत्येक व्यक्ति भाषा को अनुकरण द्वारा सीखता है तो उस अनुकरण में प्रायः अपूर्णता रह ही जाती है। बच्चे प्रायः कवर्ग और टवर्ग को तवर्ग के रूप में सीखना प्रारम्भ करते हैं तथा र को ल् अथवा न् कहना उनके लिए सामान्य बात है। अनुकरण की अपूर्णता का प्रारम्भ इसी अवस्था से हो जाता है। पूरे पूर्वी भारत में स् और श् का परस्पर प्रयोग परिवर्तन अब एक विशेषता बन चुकी है। बिहार में रमेश को रमेस तथा बंगाल में सुन्दर को शुन्दर कहना एक भाषाई विशेषता है। असम में स् का प्रयोग प्रायः ह् के रूप में होता है। अनुकरण की अपूर्णता का प्रभाव यहां तक हुआ है कि प्रायः सम्पूर्ण भारत में ष का स्वतन्त्र प्रयोग और उत्तरी भारत में ऋ का शुद्ध प्रयोग लुप्त हो चुका है। अशिक्षित समाज में चूंकि अनुकरण की अपूर्णता अधिक रहती है अतएव वहां के प्रयोगकर्ता भाषा-परिवर्तन भी जल्दी-जल्दी करते हैं।

चूंकि प्रत्येक वक्ता का वाग्यन्त्र दूसरे से भिन्न होता है अतः वाग्यन्त्र की विभिन्नता भी भाषा-परिवर्तन का कारण बन जाती है। कुछ नए भाषाविद् इस कारण को विशेष महत्त्व नहीं देते, परन्तु प्राचीन विद्वानों के लिए भाषा-परिवर्तन का यह एक महत्त्वपूर्ण कारण था। सभी मनुष्यों का वाग्यन्त्र एक-दूसरे से पृथक् अपनी-अपनी प्रकार का होता है। अतः तात्त्विक रूप से कोई भी दो व्यक्ति एक ही ध्वनि को एक ही प्रकार से नहीं बोलते। परिणाम यह होता है कि भाषा में निरन्तर परिवर्तन होता रहता है। इस प्रकार का परिवर्तन शनैः शनैः किन्तु निश्चित रूप से होता है और कुछ समय बाद भाषा की विशेषता के रूप में प्रतिष्ठित

हो जाता है। बंगाल में कुछ संयुक्त अक्षरों को समीकृत रूप (काब्ब) में बोलना इसी कारण से हुआ प्रतीत होता है।

प्रयत्नलाघव को भाषा-परिवर्तन का एक और महत्त्वपूर्ण कारण माना गया है। मनुष्य स्वभाव से सरलता से प्रेम करने वाला है। यद्यपि विशेषता की प्रवृत्ति भी मनुष्य में स्वत: विद्यमान है; परन्तु सफलतापूर्वक प्रत्येक कार्य करने की मनुष्य की स्वाभाविक इच्छा होती है। यह सरलता भाषा में परिवर्तन को भी प्रभावित करती है। इसके अनेक आयाम हैं। नवीनतम आयाम शब्दों के संक्षेपीकरण में दिखाई देता है। द्रविड़ मुन्नेत्र कड़गम के स्थान पर द्रमुक कहना इसी प्रवृत्ति का परिचायक है। संस्कृत में भी ऐसे अनेक शब्द मिलते हैं–शक्र (शत-क्रतु), सुदि (शुक्ल-दिवस=शुक्लपक्ष), वदि (वलक्ष-दिवस=कृष्णपक्ष) जैसे शब्द इसी आयाम के उदाहरण हैं। उपाध्याय का पाधा, ओझा का झा, सूर्य का सूरज इसी प्रयत्नलाघव का परिणाम हैं।

परन्तु इसके विपरीत विशेषता की प्रवृत्ति भी भाषा-परिवर्तन का कारण बन जाती है। इसका प्रभाव अर्थपरिवर्तन में देखने में आता है। अर्थ संकोच का यह एक बड़ा महत्त्वपूर्ण कारण है। कई बार ऐसा होता है कि एक ही शब्द अनेक अर्थों का या एक व्यापक अर्थ का द्योतक होता है। पर विशेषज्ञ समाज उसे शनै: शनै: एक ही अर्थ की ओर ले आता है। संस्कृत का मृग शब्द मूलत: पशुमात्र का द्योतक था (पशुओं का राजा शेर=मृगेन्द्र)। प्राचीन संस्कृत में इसका प्रयोग "पशु" के अर्थ में हुआ है। परन्तु अब संकुचित होकर इसका प्रयोग केवल "हिरण" पशु विशेष के लिए सीमित हो गया है।

भाषा के सिद्धान्तों की व्याख्या करते हुए भाषाविद् पॉल ने भाषा-परिवर्तन का अच्छा खासा विश्लेषण किया है। उन्होंने भाषा-परिवर्तन के तीन कारणों की ओर विशेष रूप से संकेत किया है। पहला कारण बताते हुए पॉल ने कहा है कि भाषा के कुछ शब्द अप्रयोग के कारण बदल जाते हैं अथवा लगभग लुप्त हो जाते हैं। एक शब्द की यदि बार-बार उसी प्रकार आवृत्ति होती रहती है तो उसमें परिवर्तन काफी देर से होता है, परन्तु यदि उसका प्रयोग प्राय: नहीं होता तो हर अगली बार के प्रयोग में उस शब्द में परिवर्तन सम्भव रहेगा। पॉल के अनुसार भाषा परिवर्तन का दूसरा महत्त्वपूर्ण कारण यह है कि बोलने, सुनने और सोचने के साथ-साथ भाषा में नित्य नया कुछ-न-कुछ जुड़ता घटता रहता है जो भाषा में परिवर्तन की सामग्री प्रस्तुत करता है। बोलने के कारण होने वाले परिवर्तन को भाषाविदों ने वाग्यन्त्र की विभिन्नता से जोड़ा है जो सुनने के कारण होने वाले परिवर्तनों का सम्बन्ध श्रवणेन्द्रिय की विभिन्नता में ढूंढा जाता है। परन्तु वास्तव में दोनों का सम्बन्ध हमारे मस्तिष्क से है। हम अपने मस्तिष्क से जैसा ग्रहण करते हैं वैसा ही सुनते हैं और बोलते भी हैं। उदाहरणतया कभी हम अन्यमनस्क होकर बैठे हों तो हम निकट से कही गई उस बात को भी नहीं सुन पाते जिसे हम सामान्य अवस्था में ठीक प्रकार से सुन लेते हैं। इस प्रकार सोचने-बोलने-सुनने से भाषा में बहुत परिवर्तन आता है।

भाषा-परिवर्तन का जो तीसरा कारण पॉल ने बताया है उसका वास्तविक विवेचन अर्थ और ध्वनि के अध्ययों में किया जायेगा। पॉल के अनुसार "पुराने भाषातत्त्वों के सबल होने और नये तत्त्वों के जुड़ जाने से" भी भाषा में परिवर्तन आता है। कई बार समाज में सांस्कृतिक पुनर्जागरण से पुराने शब्दों का नए सन्दर्भ में प्रयोग प्रारम्भ हो जाता है। संस्कृत 'आकाशवाणी' शब्द का प्रयोग इसका श्रेष्ठ उदाहरण है। इसी प्रकार बिल्कुल नए शब्दों के प्रयोग भी प्रारम्भ हो जाते हैं। उदाहरणतया आज हिन्दी में दूरदर्शन, दूरभाष, परिवहन सदृश नए शब्दों का आगमन भाषा के पूरे मुहावरे को बदलकर रख रहा है।

भाषा-परिवर्तन के अनेक कारणों में से यहां कुछ प्रारम्भिक दृष्टि से ही बताए गए हैं। आगामी पृष्ठों में जहां ध्वनिपरिवर्तन तथा अर्थपरिवर्तन के कारणों का विवेचन होगा वहां इस विषय पर विस्तृत चर्चा करने का उचित अवसर होगा।

भाषा-परिवर्तन के प्रति दो प्रकार के दृष्टिकोण प्राप्त होते हैं। एक दृष्टिकोण परम्परा से अनुप्राणित है तो दूसरा दृष्टिकोण वस्तुपरक है। परम्परा के अनुसार भाषा ईश्वरीय रचना है और मानव को यह वरदान ईश्वर से प्राप्त हुआ है। ईश्वरीय रचना होने के कारण भाषा को सुगठित और सभी प्रकार से परिपक्व माना जाता है। इस विश्वास को मानने वालों का भाषा-परिवर्तन के सम्बन्ध में दृष्टिकोण यह है कि प्रयोग के परिणामस्वरूप भाषा के स्वरूप का ह्रास होता है। अर्थात् जो भाषा मनुष्य को पूर्ण विकसित रूप में प्राप्त हुई थी, मनुष्य ने अपनी बौद्धिक अपूर्णता के कारण उसको ह्रासावस्था में पहुंचा दिया है।

इसके विपरीत आधुनिक भाषाविदों का मत यह है कि मनुष्य की बुद्धि क्रमश: अधिकाधिक तीक्ष्ण हुई है जिसके परिणामस्वरूप उसने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में विकास किया है। भाषा मानव की सबसे मूल्यवान् उपलब्धि है। इसका भी मनुष्य ने शनै: शनै: विकास किया है। इन दो प्रकार के दृष्टिकोणों में अन्तर के कारण जहां परम्परावादी लोग भाषा-परिवर्तन में भाषा का ह्रास मानते हैं, वहां आधुनिक भाषाविदों के लिए भाषा में परिवर्तन उसके विकास का पर्याय है। इसीलिए जहां परम्परावादियों के लिए प्राचीन भाषाओं का अध्ययन अधिक महत्त्व रखता है वहां आधुनिक भाषाविदों के लिए प्राचीन भाषाओं का अध्ययन केवल ऐतिहासिक महत्त्व का विषय है।

पाठ-4
ध्वनिविज्ञान

-डॉ. सूर्यकांत बाली

1. परिचय

ध्वनिविज्ञान के अंतर्गत प्राय: चार प्रश्नों पर इतना अधिक ध्यान केंद्रित कर दिया जाता है कि अन्य विषयों के महत्त्व की ओर हमारी दृष्टि कम हो जाती है। ये चार विषय हैं -ध्वनिपरिवर्तन के कारण, ध्वनिपरिवर्तन की दिशाएं या ध्वनि प्रवृत्ति, अपश्रुति और ध्वनिनियम। अगले पाठों में इन्हीं चारों विषयों का विस्तार से विश्लेषण किया जायेगा। पर इन पर विचार करने से पूर्व ध्वनिविज्ञान से ही संबंधित कुछ अन्य मूलभूत तत्त्वों पर विचार कर लेना आवश्यक है।

इसे संयोग कहें या भाषाई आवश्यकता-किंतु यह एक वास्तविकता है कि प्राचीन भारत में और आधुनिक विश्व में भाषा के ध्वनिपक्ष पर बहुत अधिक विचार हुआ है। ऐसा सम्भवत: इसलिए सम्भव हो सका क्योंकि वाक्य, पद और अर्थ की अपेक्षा ध्वनि पर अधिक वैज्ञानिक ढंग से विचार करने के अवसर अधिक होते हैं। प्रथम तो अर्थ, पद और वाक्य की अपेक्षा ध्वनि का स्थान भाषा के गठन में मूलभूत तो है ही दूसरे अर्थ की अपेक्षा इसकी आकार ग्रहण कर लेने की विशेषता के कारण इसका और अधिक वैज्ञानिक रूप से अध्ययन कर सकने की सम्भावनाओं में भी असीम वृद्धि हुई है। इसलिए शेष तीन पक्षों की अपेक्षा ध्वनि का अध्ययन ही सबसे पहले कर लेना आवश्यक है।

ध्वनिविज्ञान यद्यपि भाषाविज्ञान का ही एक अंग है पर इसे इस तरह अलग नाम प्राप्त हो गया है कि जैसे मानो यह एक स्वतंत्र विज्ञान हो। इतना ही नहीं, अर्थविज्ञान, पदविज्ञान और वाक्यविज्ञान भी अपने नामों से स्वतंत्र शास्त्र ही प्रतीत होते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि भाषाविज्ञान अब इतने व्यापक शास्त्र के रूप में विकसित हो चुका है कि इसके इन चारों अंगों का अध्ययन भी अब स्वतन्त्र शास्त्रों के रूप में होने लगा है। लिपि, शैलीविज्ञान, मनो-भाषिकी जैसे-भाषाविज्ञान के अंग भी अब शनै: शनै: स्वतंत्र शास्त्रों के रूप में विकसित होते जा रहे हैं। अब ध्वनि से संबद्ध विभिन्न पक्षों और भाषा की ध्वनिसंबंधी विशेषताओं का अध्ययन किया जायेगा।

2. स्वर और व्यंजन

भारत में, अन्य देशों के समान, ध्वनियों के दो भेद किए गए हैं-स्वर और व्यंजन। अ, इ, उ आदि स्वर तथा क्, च्, र्, आदि व्यंजन है। भारत में स्वर शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम वेदों में मिलता है। 'स्वृ' नामक धातु से निष्पन्न यह शब्द वेदों में स्वर व्यंजन भेद से ज्ञात होने वाले स्वर का परिचायक नहीं है अपितु ध्वनि मात्र का परिचायक है। अर्थात् वेदों में स्वर का अर्थ. है ध्वनि - कोई भी ध्वनि। बाद में चलकर स्वर का अर्थ बदल गया और उदात्त, अनुदात्त, स्वरित आदि के रूप में सुर और लहर का परिचायक बन गया। अ, इ, उ, आदि स्वरों का बोध तब भी इससे नहीं होता था। पर एक अन्तर अवश्य पड़ गया। उदात्त आदि का बोध अ, इ, उ, आदि स्वरध्वनियों के संदर्भ में ही होता था। इसलिए कह सकते हैं कि उदात्त आदि के बोध के रूप में परोक्ष रूप से स्वरध्वनियों का बोध भी इस नामकरण से होने लगा।

यद्यपि हम अपने सामान्य जीवन तक में भी स्वरों और व्यंजनों का प्रयोग ही नहीं करते उनके बारे में पर्याप्त जानकारी भी रखते हैं तथापि भाषाविज्ञान में इसकी परिभाषा करने का कार्य उतना ही दुष्कर है। भारत में स्वर और व्यंजन की प्राचीनतम उपलब्ध परिभाषा पतंजलि के महाभाष्य में मिलती है। ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी में लिखे गए महाभाष्य में इन दोनों की परिभाषा इस प्रकार दी गई है-'स्वयं राजन्ते स्वरा:। अन्धं भवति व्यंजनमिति।' आज की भाषा में पतंजलि द्वारा दी गई परिभाषा को इस प्रकार रखा जा सकता है, जो बिना किसी की सहायता के बोले जाएं वे स्वर हैं और जो स्वरों की सहायता से बोले जाए वे व्यंजन होते हैं। व्यंजन अपने प्रकटीकरण के लिए किस प्रकार स्वरों पर निर्भर करते हैं इसको विशद रूप से बताते हुए आचार्य पतंजलि कहते हैं:

"व्यंजनानि पुनर्नटमायावद् भवन्ति। तद् यथा नटानां स्त्रियो
रंगं गता: यो य: पृच्छति कस्य यूयं कस्य यूयम्, इति तं तं
तवेत्याहु: एवं व्यंजनानि अपि यस्य यस्याच: कार्यमुच्यते तं तं भजन्ते।"

अर्थात् जिस प्रकार रंगमंच पर (नाटक प्रारंभ होने से पूर्व) जो पुरुष जिस स्त्री से पूछता है कि तुम किस की पत्नी हो तो वह कहती है कि तुम्हारी पत्नी हूं उसी प्रकार व्यंजन भी जिस स्वर के साथ जुड़ते हैं उसको उच्चारित करते हैं।

इसे समझने के लिए एक उदाहरण पर्याप्त रहेगा। यदि हमें अ, इ अथवा उ या किसी भी अन्य स्वर का उच्चारण करना हो तो हम अपने ध्वनि तन्तुओं की सहायता से उसी प्रकार की ध्वनि निकाल कर उसका उच्चारण सरलता पूर्वक कर लेंगे। पर यदि हमें क् का उच्चारण करना हो तो हम स्वतंत्र रूप से उसका उच्चारण नहीं कर पाते, सिवाय संयुक्त व्यंजनों के। सामान्यता हम क्+अ=क, क्+इ=कि, क्+औ=कौ, क्+अ:= क:, इस प्रकार स्वर की सहायता से ही उसका उच्चारण कर पाते हैं। यही स्थिति सभी अन्य व्यंजनों की भी है।

यह एक आश्चर्य का विषय है कि ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी में जब भारत में पतंजलि स्वर और व्यंजन की परिभाषा दे रहे थे ठीक उसी शताब्दी में यूनानी वैयाकरण डायोनिशस थ्रेक्स भी इसी प्रकार की परिभाषा दे रहे थे। यह निश्चय कर पाना वास्तव में दुष्कर कार्य है कि पतंजलि और थ्रेक्स में से किसने किसको प्रभावित किया। अधिक तर्कपूर्ण और सम्भाव्य स्थिति यह है कि दोनों स्वतंत्र रूप से एक दूसरे को जाने बिना ही एक समान परिभाषा दे रहे थे।

कुछ विद्वानों की ऐसी धारणा है कि व्यंजन की परिभाषा का यह अंश कि वे अपने उच्चारण के लिए स्वर पर निर्भर करते हैं थ्रेक्स को जितना अधिक स्पष्ट था उतना पतंजलि को नहीं। परन्तु यह धारणा ठीक नहीं है। पतंजलि के निम्नलिखित उद्धरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि उन्हें व्यंजन की परिभाषा के इस अंश की पूरी जानकारी थी। पतंजलि कहते हैं:–

'न पुनरन्तरेणाचं व्यंजनस्योच्चारणमपि भवति' अर्थात् स्वर के बिना व्यंजन का उच्चारण होता ही नहीं है। इससे स्पष्ट है कि पतंजलि को इस भाषाई तथ्य की पूरी जानकारी थी कि स्वरों की सहायता के बिना व्यंजन का स्वतंत्र उच्चारण हो ही नहीं सकता।

यद्यपि स्वर और व्यंजन की इससे अधिक श्रेष्ठ और इससे अधिक वैज्ञानिक परिभाषा प्राप्त नहीं होती, परन्तु कुछ भाषावैज्ञानिक इस परिभाषा की शुद्धता को लेकर अपना वैमत्य रखते हैं। उनका तर्क यह है कि अनेक भाषाएं ऐसी हैं जहां बड़े-बड़े शब्दों में व्यंजनों का प्रयोग और उच्चारण स्वर के बिना भी किया जाता है। अफ्रीका में ऐसी भाषाएं बहुत हैं जिनमें बिना स्वर का प्रयोग किए ही व्यंजनों का स्वतंत्र उच्चारण कर सकने योग्य शब्द मिलते हैं। उधर पूर्वी यूरोप की चैक भाषा में पूरे के पूरे वाक्य ऐसे मिल जाते हैं जिनमें स्वर का प्रयोग नहीं किया जाता। इन अपवादों को देखते हुए आधुनिक भाषावैज्ञानिक स्वर और व्यंजन की ऐसी परिभाषा बनाना चाहते हैं जिनमें ऐसे उदाहरण भी सम्मिलित किए जा सकें जहां व्यंजनों का उच्चारण स्वतंत्र रूप से हुआ है या होता है। इनके अनुसार ऐसी परिभाषा निम्नलिखित हो सकती है–

'स्वर वह (घोष) ध्वनि है जिसके उच्चारण में हवा अबाध गति से मुखविवर से निकल जाती है। इसके विपरीत व्यंजन वह ध्वनि है जिसके उच्चारण में हवा अबाध गति से मुखविवर से नहीं निकल पाती। ऐतरेय आरण्यक में स्वर-व्यंजन की जो परिभाषा दी गई है उसमें इस परिभाषा के पूर्व संकेत कुछ सीमा तक मिल जाते हैं। ऐतरेय आरण्यक के अनुसार व्यंजन शरीर है और घोष अर्थात् स्वर आत्मा है:–

'तस्य यानि व्यंजनानि तच्छरीरम् यो घोष: स आत्मा।"

प्राचीन और नवीन विद्वानों की स्वर व्यंजन संबंधी अवधारणाओं का विवेचन करते हुए डा. भोलानाथ तिवारी ने इन दोनों में हो सकने वाले भेदों का इस प्रकार निरूपण किया है–

1. स्वरों का उच्चारण हर परिस्थिति में अकेले सरलतापूर्ण किया जा सकता है जबकि व्यंजनों के विषय में ऐसा नियमत: नहीं कहा जा सकता। इसके विपरीत व्यंजनान्त शब्दों को जैसे भगवन्, मरुत् और संयुक्त व्यंजनों को छोड़कर प्राय: व्यंजनों के उच्चारण में स्वर जैसी स्वतंत्रता और सरलता नहीं है।
2. प्राय: सभी स्वरों का उच्चारण देर तक किया जा सकता है जबकि व्यंजनों का देर तक उच्चारण सम्भव नहीं हो पाता। जब भी हम व्यंजन का उच्चारण देर तक करते है तो उसमें स्वर का समावेश स्वयमेव हो जाता है।
3. प्राय: सभी स्वरों का उच्चारण करने में हवा मुखविवर से गूंजती हुई बाहर निकलती हैं जबकि प्राय: सभी व्यंजनों का उच्चारण करने में मुखविवर से निकलने वाली हवा बिना किसी अवरोध के बाहर नहीं निकलती।
4. सभी स्वर आक्षरिक हैं। अंग्रेजी में इन्हें सिलेबिक कहते हैं। इसका अर्थ यह है कि अ, इ, उ, आदि स्वर अपने आप में एक अक्षर हैं। ए और ओ को स्वरयुग्म कहा जाता है। इनमें एक से अधिक अक्षरों का अर्थात् दो अक्षरों का योग

रहता है जैसे अ+इ=ए, अ+उ=ओ। इसलिए इन्हें आक्षरिक कहने के बजाय ध्वनियुग्म या सन्ध्यक्षर कहा जाता है। पर आक्षरिक स्वर रचना में ध्वनियुग्म अपवाद स्वरूप हैं। इसके विपरीत प्राय: सभी व्यंजन अनाक्षरिक अर्थात् नॉन-सिलेबिक हैं। केवल न् जैसे स्पर्श को अपवाद माना जा सकता है।

5. स्वरों में मुखरता अधिक होती है, व्यंजनों में कम होती है।
6. यद्यपि प्राचीन संस्कृत वैयाकरणों ने स्वरों के भी, व्यंजनों के समान उच्चारण स्थान गिनवाए हैं परन्तु आधुनिक धारणा यह है कि उच्चारण स्थान विशेष रूप से व्यंजनों का ही होता है। स्वरों का उच्चारण स्थान विशेष रूप से नहीं होता।

परिभाषा और भेदों का वर्णन करने के बाद स्वरों और व्यंजनों के वर्गीकरण पर विचार करना आवश्यक है। उच्चारण स्थान के अनुसार अर्थात् जीभ, होंठ और नासिका आदि एवं मात्रा के आधार पर स्वरों का वर्गीकरण पांच प्रकार का हो सकता है जो निम्नलिखित हैं:-

1. ऊपर कहा गया है कि स्वरों के उच्चारण में हवा मुखविवर से बिना किसी व्यवधान के बाहर निकलती है। जो ध्वनि हमें सुनाई पड़ती है उसका स्वरूप उसके मुंह में गूंजने पर निर्भर करता है। जहां ध्वनि के गूंजने में मुखविवर सहायता करता है वहां जीभ भी उसकी सहायता करती है। जीभ के अग्र, मध्य या पश्च भाग के ऊपर उठने से स्वर के आकार में अंतर पड़ जाता है। इस आधार पर स्वरों के तीन वर्गीकरण किए गए हैं– अग्रस्वर जिसमें इ, ई, ऐ आते हैं, पश्च स्वर जिसमें उ, ऊ ओ हैं और मध्यस्वर जिसमें अ, आ आते हैं। जीभ के उग्र, मध्य पश्च भाग की सहायता इसमें यद्यपि हैं पर यह वर्गीकरण मूलत: उच्चारण भेद के आधार पर बनाया गया है।
2. दूसरा वर्गीकरण इस पर आधारित है कि जीभ का व्यवहृत भाग कितना ऊपर उठा है। यदि जीभ का विशिष्ट भाग, बहुत उठा हो तो मुखविवर अत्यन्त संकरा होगा, इसे संस्कृत व्याकरण में 'संवृत' कहते हैं। ई, ऊ, संवृत स्वर माने जाते है। यदि जीभ का विशिष्ट भाग नहीं के बराबर उठा हो तो मुखविवर बहुत खुला होगा। संस्कृत व्याकरण में इसे विवृत कहते हैं। वहां सभी स्वरों को विवृत मान लिया गया है पर आधुनिक भाषाविद 'आ' को संवृत मानते है। इन दोनों के बीच की स्थितियां अर्धविवृत्त (आ) और अर्धसंवृत (ए, ओ) कही गई हैं। संस्कृत व्याकरण में इस आधार पर किया गया स्वरों का वर्गीकरण आधुनिक भाषाविज्ञान में किए जाने वाले वर्गीकरण से पृथक् है।
3. ओष्ठों के आधार पर भी स्वरों के वर्गीकरण किए जा सकते हैं। यह इस बात पर निर्भर करता है कि स्वर के उच्चारण के समय ओष्ठों की स्थिति किस प्रकार की है। वैसे तो ये स्थितियां कई प्रकार की हो सकती हैं, परन्तु मुख्य रूप से ये दो प्रकार की मानी गई हैं- वृत्तमुखी और अवृत्तमुखी। इन्हें क्रमश: वृत्ताकार और अवृत्ताकार भी कहा जाता है। जब स्वरों के उच्चारण में ओष्ठ गोल आकार धारण कर लें तो वृत्ताकार स्वर नि:सृत होंगे। जैसे - उ, ऊ, ओ। इसके विपरीत ओष्ठों की सामान्य स्थिति में अ, इ, ए जैसे स्वर नि:सृत होंगे जिन्हें अवृत्ताकार कहा जायेगा।
4. मात्रा के आधार पर संस्कृत वैयाकरणों ने स्वरों के तीन वर्ग किए हैं। एक मात्रा वाले स्वरों को ह्रस्व कहा जाता है,जैसे अ, इ, उ। दो मात्राओं वाले स्वरों को दीर्घ कहा जाता है, जैसे -आ, ई, ऊ। दो से अधिक मात्राओं वाले स्वरों को प्लुत कहते हैं जैसे-ओ (3) म्। आधुनिक भाषाविज्ञान ने ह्रस्व से भी कम मात्रा वाले स्वरों को दुर्बल स्वर या ह्रस्वार्ध माना है।
5. नासिका के आधार पर सभी स्वरों के दो भेद हैं। जब स्वर का उच्चारण मुख और नासिका की सहायता से किया जाए तो उसे अनुनासिक स्वर कहते हैं, जैसे, अँ, इँ, ऊँ इत्यादि। जब नासिका का प्रयोग किए बिना ही स्वर का उच्चारण होता है तो उसे निरनुनासिक या सामान्य स्वर कहते हैं।
6. इनके अतिरिक्त कुछ स्वरों को व्याकरण और भाषाविज्ञान में संयुक्त स्वर कहा जाता है। ये हैं–ए, ऐ, ओ, औ। इन्हें ध्वनियुग्म भी कहते हैं। इन स्वरों को 'संयुक्त स्वर' इसलिए कहा जाता है क्योंकि ये स्वर स्वतंत्र रूप से उच्चारित या आक्षरिक न होकर दो स्वरों के मेल से बनते हैं, जैसे–अ+इ=ए; अ+उ=ओ। संस्कृत व्याकरण में ध्वनियुग्म दो प्रकार के माने गए हैं–गुणस्वर और वृद्धिस्वर। ए, ओ गुणस्वर हैं जबकि ऐ, और औ वृद्धिस्वर हैं। यह धारणा कि गुणस्वर निश्चित रूप से दो ह्रस्व स्वरों के संयोग से ही बनते हैं और वृद्धिस्वरों के लिए दो दीर्घस्वरों का ही संयोग आवश्यक है, भ्रांतिपूर्ण है। उदाहरण के लिए रमा+ईश=रमेश में दो दीर्घस्वरों के संयोग से गुणध्वनियुग्म ए की रचना हुई है, जबकि देव+ऐश्वर्य= देवैश्वर्य में पहला स्वर ह्रस्व ही है।

जिस प्रकार उच्चारण आदि के आधार पर स्वरों के इतने अधिक वर्गीकरण प्राप्त होते हैं उसी प्रकार हम व्यंजनों को भी कई प्रकार के वर्गीकरणों में रख सकते हैं। ये वर्गीकरण निम्न प्रकार के हो सकते हैं:–

1. एक वर्गीकरण में व्यंजनों के तीन वर्ग बनाए जाते हैं – स्पर्श, अन्तस्थ और ऊष्म। क् से लेकर म् तक इन पच्चीस व्यंजनों को स्पर्श कहा जाता है –"कादयो मावसाना: स्पर्शा:।" इन्हें स्पर्श इसलिए कहते हैं क्योंकि इनके उच्चारण में दो अंग, चाहे वे दोनों ओष्ठ हों, या जिह्वा, तालु, कण्ठ, दन्त आदि हों, एक दूसरे का स्पर्श करके हवा को रोकते हैं और विभिन्न व्यंजनों का उच्चारण करने में सहायता देते हैं। अन्त:स्थों के अंतर्गत चार व्यंजनों की गणना होती है। वे है– य्, व्, र्, ल्। इनकी स्थिति स्वरों और व्यंजनों के बीच की मानी जाती है। इसलिए इन्हें अर्धस्वर भी कहते हैं। परन्तु व्यंजनत्व की ओर अधिक झुकाव होने के कारण इन्हें व्यंजनों में ही गिना जाता है। इनका परिवर्तन इ, उ, ऋ एवं लृ– इन स्वरों में भी हो जाता है। इसे (परिवर्तन को) सम्प्रसारण कहा गया है। अपश्रुति और संस्कृत वर्णमाला के विवेचन में सम्प्रसारणों के विषय में अधिक जानकारी दी जायेगी। श्, ष्, स्, ह्, को ऊष्म माना गया हैं। इन्हें ऊष्म इसलिए कहा जाता है क्योंकि इनके उच्चारण में वायु को विशेष वाक् तन्तुओं से विशेष संघर्ष करना पड़ता है जिससे उसमें मानो कुछ ऊष्मा का संचार हो जाता है। उच्चारण में संघर्ष की स्थिति होने के कारण इन व्यंजनों को संघर्षी भी कहा गया है।
2. व्यंजनों का दूसरा वर्गीकरण अघोष-सघोष के आधार पर किया जाता है। यह वर्गीकरण स्वर तंत्रियों में होने वाले कम्पन के आधार पर किया जाता है। जब हम व्यंजनों का उच्चारण करते हैं तो स्वर तंत्रियाँ एक दूसरे के पर्याप्त निकट आ जाती है। फिर उनके बीच में से हवा निकलती हैं तो उनमें कम्पन की स्थिति पैदा हो जाती है। जिन व्यंजनों के उच्चारण के समय निकट आ चुकी स्वर तंत्रियों में कंपन नहीं होता, उन व्यंजन ध्वनियों को अघोष व्यंजन कहते हैं। वर्ग के पहले और दूसरे व्यंजन अर्थात् क्, ख्, च्, छ्, ट्, ठ् आदि अघोष व्यंजन हैं। इसके विपरीत जब उच्चारण के समय उन निकट आ चुकी स्वरतंत्रियों में कम्पन होता है तो उस समय जिन व्यंजनध्वनियों का हम उच्चारण करते हैं वे सघोष व्यंजन कहे जाते हैं। वर्ग के तीसरे, चौथे और पांचवे अर्थात् ग्, घ्, ङ् आदि को सघोष व्यंजन माना जाता है।
3. व्यंजनों का तीसरा वर्गीकरण प्राणता के आधार पर किया जाता है। जिन व्यंजनों के उच्चारण में प्राणशक्ति का अर्थात् श्वास का बल कम हो उन्हें 'अल्पप्राण' व्यंजन कहा जाता है। प्रत्येक वर्ग के पहले, तीसरे और पांचवे व्यंजनों (क् ग् ङ् आदि) को 'अल्पप्राण' कहा जाता है। इसके विपरीत जिन व्यंजनों के उच्चारण में श्वास का बल अधिक होता है उन्हें 'महाप्राण' व्यंजन कहा जाता है। प्रत्येक वर्ग के दूसरे और चौथे व्यंजनों (ख्, घ् आदि) को 'महाप्राण' कहा जाता है।

3. स्थान–प्रयत्न

संस्कृत वैयाकरणों और आधुनिक भाषावैज्ञानिकों ने सभी उच्चार्यमाण ध्वनियों का उच्चारण स्थान और उच्चारण प्रयत्न के आधार पर भी गहन अध्ययन किया है। इन दोनों प्रकार के अध्ययनों के आधार पर यह निश्चय किया जाता है कि विभिन्न प्रकार के स्वरों और व्यंजनों के कौन कौन से और कितने प्रकार के समान वर्ग बन सकते हैं।

जैसा कि पहले भी कई बार कहा जा चुका है, ध्वनियों का उच्चारण मुखविवर से हवा के निकलने के कारण होता है। यदि केवल अस्पष्ट ध्वनि मुख से नि:सृत की जाए तो उसके अध्ययन के लिए कोई विशेष प्रयास नहीं करना पड़ता। किंतु यदि सार्थक भाषा के संदर्भ में स्वरों और व्यंजनों का उच्चारण किया जाए तो उनका अध्ययन करना एक भाषाई आवश्यकता बन जाती है और यह अध्ययन इस प्रक्रिया पर आधारित होता है कि मुखविवर से ध्वनि किस प्रकार से निकली।

हमारे मुख में अनेक ऐसे अवरोधक हैं जिनसे टकराकर यह ध्वनि मुखविवर से बाहर निकलती है। इन अवरोधकों से टकराकर निकलने के कारण एक ही ध्वनि विभिन्न आकार ग्रहण कर लेती है। इन्हीं अवरोधकों को व्याकरण की पारिभाषिक शब्दावली में उच्चारणस्थान कहते हैं। इनमें से जिस-जिस उच्चारण स्थान से टकराकर ध्वनि हमारे मुंह से निकलती है उन ध्वनियों को उन्हीं उच्चारण स्थानों का नाम भी दे दिया जाता है।

हमारे मुख में निम्नलिखित अवरोधक हैं:- कण्ठ, मूर्धा, तालु, दन्त और ओष्ठ। इनमें जिस अवरोधक से टकराकर वायु मुखविवर से बाहर निकलती है और ध्वनि को स्वर अथवा व्यंजन का आकार देती है, वही उस ध्वनि का उच्चारण स्थान मान लिया जाता है। ऐसे उच्चारणस्थान एक अथवा एक साथ दो भी हो सकते हैं। संस्कृत वैयाकरणों ने इन उच्चारण स्थानों का विश्लेषण निम्न प्रकार से किया है–

1. कण्ठ – अ, कवर्ग, ह् और विसर्जनीय।
2. तालु – इ, चवर्ग, य्, श्।
3. मूर्धा – ऋ, टवर्ग, र्, ष्।
4. दन्त – लृ, ल्, स्।
5. ओष्ठ – उ, पवर्ग।
6. कण्ठ तालु – ए,ऐ।
7. कण्ठौष्ठ – ओ, औ
8. दन्तौष्ठ – व्।
9. नासिका

ऊपर मुख के अंदर के वायु अवरोधक स्थानों का उल्लेख किया गया था। इन स्थानों के अलावा नासिका को भी वही महत्व दिया जाता है। यदि वायु मुखविवर के साथ साथ नासिका से भी निकले तो इस संयुक्त प्रयास से उच्चार्यमाण ध्वनियों को अनुनासिक कहते हैं जिसके अंतर्गत ङ्, ण्, न्, म् आते हैं। इन ध्वनियों के उच्चारण स्थान दो माने गए हैं। एक तो इनका अपने अपने वर्ग का उच्चारण स्थान है। जैसे ङ् का कण्ठ, ण् का मूर्धा आदि। इसके अतिरिक्त नासिका को भी उनका उच्चारण स्थान माना जाता है।

आधुनिक भाषावैज्ञानिकों ने इन उच्चारणस्थानों को ध्वनियों के आज के उच्चारण के आधार पर पूरी तरह से ठीक नहीं माना है। उनका कहना है कि हो सकता है जब प्राचीन भारतीय वैयाकरण वर्णों के उच्चारण स्थानों का निर्धारण कर रहे थे, उस समय यही स्थिति ठीक रही हो, परन्तु आज कई वर्णों के उच्चारण स्थान बदल चुके हैं। इसलिए वे प्राचीन वैयाकरणों द्वारा दी गई उच्चारणस्थान योजना में थोड़ा बहुत परिवर्तन करते हैं। आधुनिक भाषावैज्ञानिकों ने उच्चारणस्थानों और उनके अंतर्गत ध्वनियों के परिगणन का पुनर्निधारण इस प्रकार किया है।

1. स्वर यंत्रमुखी अथवा काकल्य – ह् तथा विसर्ग।
2. उपालिजिह्वीय – ऐसी ध्वनियां प्राय: अफ्रीका और उसके आसपास के देशों में उच्चारित होती हैं।
3. अलिजिह्वीय – क्।
4. कोमलतालव्य – कवर्ग।
5. मूर्धन्य – ऋ टवर्ग।
6. कठोरतालव्य या तालव्य – इ, चवर्ग, य्, श्।
7. वर्त्स्य – न् ल् र् स् ज्।
8. दन्त्य – त् थ् द् ध्।
9. दन्तोष्ठ्य – व् फ्।
10. ओष्ठ्य – पवर्ग।

आधुनिक भाषा वैज्ञानिकों का तर्क यह है कि वर्णों के उच्चारण अपने मूलस्थानों से आगे या पीछे खिसक गए हैं इसलिए उनके उच्चारणस्थानों का उपरोक्त प्रकार से पुनर्निर्धारण किया गया है। पर स्पष्ट है कि पुनर्निर्धारण का पूरा प्रयास प्राचीन उच्चारणस्थानयोजना पर ही टिका है।

उच्चारणस्थान के अतिरिक्त महत्व का दूसरा विषय है प्रयत्न। ध्वनियों के उच्चारण के लिए हवा को रोक कर या कई अन्य प्रकार से विकृत करना पड़ता है। इसी क्रिया को प्रयत्न कहते हैं। प्राचीन संस्कृत वैयाकरणों द्वारा उच्चारण प्रयत्न पर बड़े विस्तार से चर्चा की गई है और मुख्य रूप से इसके दो भेद माने हैं– आभ्यंतर प्रयत्न और बाह्य प्रयत्न। मुख के अंदर उच्चारण के लिए वायु के द्वारा जो प्रयत्न किए जाते हैं उसे आभ्यंतर प्रयत्न कहते हैं और मुंह के बाहर जो प्रयत्न किया जाता है उसे बाह्य प्रयत्न कहते हैं। परन्तु इस भेद को इतना अधिक सटीक और सूक्ष्म नहीं बनाया जा सकता और कुछ विद्वानों के अनुसार इसका निश्चित मानदण्ड भी नहीं प्रस्तुत किया जा सकता। वैसे यह सत्य है कि आधुनिक भाषाविज्ञान में उच्चारण प्रयत्न वाले पक्ष पर कोई विशेष अनुसंधान नहीं किया गया है। इसलिए प्राचीन भारतीय वैयाकरणों ने इस विषय पर जो लिखा है उसी के आधार पर उच्चारण प्रयत्न का विवेचन किया जा सकता है।

प्रयत्न दो प्रकार का होता है– आभ्यन्तर प्रयत्न और बाह्य प्रयत्न। इनके स्वरूप के बारे में ऊपर के अनुच्छेद में बताया गया है। आभ्यंतर प्रयत्न के पांच भेद माने गए हैं जो निम्नलिखित हैं–

1. स्पृष्ट – सभी स्पर्श व्यंजन।
2. ईषत्स्पृष्ट – अन्त:स्थ व्यंजन।
3. ईषद्विवृत – ऊष्म व्यंजन।
4. विवृत – सभी स्वर।
5. संवृत – कुछ अवस्थाओं में प्रयोग होने वाला अ।

बाह्य प्रयत्न ग्यारह प्रकार का माना गया जो इस प्रकार है–

1. विवार
2. संवार
3. श्वास
4. नाद
5. अघोष – वर्ग के पहले और दूसरे व्यंजन
6. सघोष – वर्ग के तीसरे, चौथे और पांचवे व्यंजन।
7. अल्पप्राण – वर्ग के पहले, तीसरे और पांचवे व्यंजन।
8. महाप्राण – वर्ग के दूसरे और चौथे व्यंजन।
9. उदात्त – जब स्वर का उच्चारण उसके स्थान के ऊर्ध्व भाग से किया जाए।
10. अनुदात्त – जब स्वर का उच्चारण उसके स्थान के अधोभाग से किया जाए।
11. स्वरित – जब स्वर का उच्चारण उसके उच्चारण स्थान से सामान्य रूप में किया जाए।

इस सम्पूर्ण विवेचन से स्पष्ट है कि भारत में ध्वनियों, उनके उच्चारण स्थानों और उच्चारण प्रयत्न का सूक्ष्म, विविध और वैज्ञानिक विवेचन करने की परम्परा आज से ढाई तीन सहस्त्र वर्ष पुरानी है।

4. भाषा और उच्चारण काल

ध्वनि विज्ञान के अंतर्गत एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण और रोचक विषय है कि किस ध्वनि के उच्चारण में कितना समय लगता है। इस विषय का जितना महत्त्व आधुनिक भाषा विज्ञान में हैं उतना ही महत्त्व प्राचीन काल के भारतीय वैयाकरणों के लिए रहा है। ध्वनियां दो प्रकार की हैं– स्वर और व्यंजन। स्वरों के कई भेद हैं–ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत एवं ध्वनियुग्म जिसके अंतर्गत गुण वृद्धि आदि का परिगणन होता है। इन सभी प्रकार के स्वरों और व्यंजनों के उच्चारण में कितना समय लगता है इसका संक्षेप में विवेचन कर लेना आवश्यक है।

भारतीय वैयाकरणों ने सभी स्वरों के तीन भेद किए हैं–ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत। भारतीय वैयाकरणों के अनुसार ह्रस्व की एक मात्रा होती है, दीर्घ की दो मात्राएं होती है। प्रश्न यह है कि 'मात्रा' के उच्चारण में कितना समय लगता है। प्राय: इसका उत्तर यह दिया जाता है कि निमेष अर्थात् पलक झपकने में जितना समय लगता है, उतना समय एक मात्रा के उच्चारण में लगता है। समय की दृष्टि से इसका यह हिसाब लगाया गया है कि एक मात्रा अर्थात् ह्रस्व के उच्चारण में .228 सेंकेड लगते हैं। पर इसका अर्थ यह नहीं कि दीर्घ के उच्चारण में इससे दुगुना समय लगता है क्योंकि इसमें मात्राएं दुगुनी हैं। वास्तव में दीर्घ में दो मात्राएं होने के बावजूद कुल समय .318 सेकेंड लगता है। प्लुत का समय इसी अनुपात में मात्राओं की संख्या पर निर्भर है।

आधुनिक भाषावैज्ञानिक स्वर की केवल तीन मात्राएं- ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत ही नहीं मानते। वे मात्राओं की कुल संख्या पांच मानते हैं और इन्हें इस क्रम में रखते हैं- ह्रस्वार्ध, ह्रस्व, ईषद्दीर्घ, दीर्घ और प्लुत। वैसे यह भी कहा जाता है कि ह्रस्व की मात्राओं को संख्या में बांध पाना कठिन है, और यदि मशीनों की सहायता ली जाए तो यह धारणा सत्य प्रमाणित हो जाएगी।

जहां तक व्यंजनों के उच्चारण काल का प्रश्न है उसके संबंध में यह जानना आवश्यक है कि विभिन्न प्रकार के व्यंजनों के लिए विभिन्न प्रकार का उच्चारण काल माना जाता है। इस दृष्टि से व्यंजनों के दो भाग कर सकते हैं। एक वर्ग अनुनासिक

1. वत्सर्य-जिन वर्णों के उच्चारण में दांतों के अन्दर का मसूढ़ा छू जाता है वे वर्त्स्य वर्ण कहलाते हैं।

व्यंजनों का है जिनके उच्चारण में सबसे अधिक कालव्यय होता है। एक अनुनासिक व्यंजन के उच्चारण में .146 सेंकेड का समय लगता है। दूसरा वर्ग शेष व्यंजनों का है जिनमें से अघोष स्पर्श ध्वनियों के उच्चारण में .12 सेंकेड जबकि घोष स्पर्श ध्वनियों के उच्चारण में इससे करीब सात गुना समय अर्थात् .88 सेंकेड व्यय होते हैं। शेष व्यंजन ध्वनियों का उच्चारण .120 सेंकेड के औसत से होता है।

5. बलाघात

केवल ध्वनिविज्ञान में ही नहीं सम्पूर्ण भाषाविज्ञान में बलाघात का बहुत अधिक महत्त्व है। अर्थपरिवर्तन और वाक्य परिवर्तन में इससे निर्णायक सहायता मिलती है। पर इसका अध्ययन ध्वनिविज्ञान के अंतर्गत ही होता है क्योंकि बल का आघात ध्वनि पर ही होता है जो अंततोगत्वा केवल ध्वनिपरिवर्तन को ही नहीं, अर्थपरिवर्तन और वाक्य परिवर्तन को भी प्रभावित करता है।

हम जब भी शब्दों के रूप में किसी ध्वनिसमुदाय का प्रयोग करते हैं तो प्रत्येक ध्वनि के उच्चारण में समान बल नहीं रहता है। हम प्रत्येक ध्वनि पर उसकी आवश्यकता और अर्थ के सम्प्रेषण के परिप्रेक्ष्य में बल देते हैं। इतना अवश्य है कि कोई भी ध्वनि ऐसी नहीं होती जो बलाघात से रहित हो। प्राचीन भारत में इस पर विशेष प्रकार का अध्ययन किया जाता था। महाभाष्य में पतंजलि ने इस अध्ययन का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए एक बहुत ही रोचक उदाहरण दिया है। 'इन्द्रशत्रु' शब्द के दो अर्थ सम्भव हैं। एक अर्थ तत्पुरुष के अनुसार है जिसका अर्थ है इन्द्र का शत्रु– इसमें इन्द्र के शत्रु वृत्र का महत्त्व है। दूसरा अर्थ बहुव्रीहि के अनुसार है जिसका अर्थ है- इन्द्र है शत्रु जिसका वह वृत्र। इसमें इन्द्र का महत्त्व है परन्तु गलत बलाघात के कारण यज्ञ के परिणामस्वरूप वृत्र के बजाए इन्द्र की विजय हुई और असुर हार गए। हम किस स्वर पर कितना बलाघात करते हैं, उससे पूरे वाक्य में अर्थ का परिवर्तन हो जाता है।

आधुनिक भाषा विज्ञान में बलाघात के चार भेद माने गए हैं- ध्वनिबलाघात, अक्षरबलाघात, शब्दबलाघात और वाक्यबलाघात।

ध्वनिबलाघात उसे कहते हैं जिसमें किसी अक्षर की एकाधिक ध्वनियों में से किसी एक ध्वनि पर बल का आघात किया जाए। प्रत्येक अक्षर में प्राय: एक से अधिक ध्वनियां होती है। इन ध्वनियों को दो भागों में रख दिया जाता है- शिखर और गह्वर। अनेक ध्वनियों में से जब किसी एक ध्वनि पर बलाघात होता है तो उसे शिखर ध्वनि कह देते हैं जबकि अवशिष्ट ध्वनियों को गह्वर कहते हैं। उदाहरणतया, नम्, यह एक अक्षर है जिसमें बलाघातहीन न् और म् गह्वर ध्वनियां हैं।

अक्षरबलाघात उसे कहते हैं जब किसी शब्द में किसी एक ध्वनि के बजाए किसी अक्षर पर बलाघात हो। विश्व में कई भाषाएं ऐसी हैं जिनमें एक ही शब्द में अनेक अक्षरों पर अलग-अलग प्रकार का बलाघात होता है। जिन अक्षरों पर सबसे अधिक बलाघात होता है उन्हें बलाघातयुक्त, जिन पर अपेक्षाकृत कम बलाघात होता है उन्हें अल्पबलाघात युक्त कहते हैं। इन दोनों के अतिरिक्त शेष अक्षरों को बलाघातहीन कहा जा सकता है क्योंकि उन पर सबसे कम बलाघात होता है। उदाहरणतया, अंग्रेजी भाषा के शब्द 'सुपरिन्टेन्डेन्ट' में कम से कम तीन अक्षरों रि, टे, डे, को बलाघातयुक्त कहा जा सकता है।

शब्दबलाघात वहां होता है जहां एक वाक्य में पूरे एक शब्द पर या एकाधिक शब्दों पर अन्य शब्दों की अपेक्षा अधिक बलाघात हो। ध्वनिबलाघात का अध्ययन अक्षर के संदर्भ में, अक्षरबलाघात का अध्ययन शब्द के संदर्भ में और शब्द बलाघात का अध्ययन वाक्य के संदर्भ में किया जाता है। इस संदर्भ में एक बहुत अच्छा उदाहरण प्राय: दिया जाता है-'राम ने मोहन को डंडे से मारा।' इस सामान्य से दिखने वाले वाक्य के अनेक अर्थ हो सकते हैं और प्रत्येक अर्थ इस बात पर निर्भर करता है कि इस वाक्य में किस शब्द पर कितना बलाघात किया गया है। इस वाक्य को सुनने के पश्चात् आश्चर्यसूचक, प्रश्नसूचक, राम के पक्ष में भयसूचक और मोहन के पक्ष में भयसूचक- इस प्रकार अनेक अर्थ हो सकते हैं। यदि बलाघात मारा पर होगा तो वाक्य प्रश्नसूचक अर्थ दे सकता है। दूसरी ओर यदि बलाघात डंडे पर होगा तो सुनने और बोलने वाले को विस्मय हो रहा प्रतीत हो सकता है। इसी प्रकार डंडे के अलावा यदि बलाघात राम अथवा मोहन पर होगा तो यह अर्थ प्राप्त हो सकताहै कि किस के अधिक चोट लगी।

वाक्यबलाघात का प्रयोग भाषा में सबसे कम होता है। स्वाभाविक ही है कि कोई व्यक्ति हर समय और बार बार वाक्यबलाघात का प्रयोग नहीं कर सकता। विशेष आवेश अथवा आज्ञा की अवस्थाओं में ही पूरे वाक्य पर बलाघात दे पाना सम्भव होता है। वास्तव में शब्दबलाघात ही एक ऐसा तत्त्व है जो भाषाई अभिव्यक्ति में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण होता है। 'कोई बचाओ', 'भागो यहां से', 'मैं उसको देख लूँगा,' 'कोई मेरा क्या बिगाड़ सकता है' जैसे वाक्य आदि से लेकर अंत तक बलाघात से पूर्ण हैं और ऐसें वाक्यों का प्रयोग भाषा में बहुत अधिक नहीं होता।

बलाघात का अब तक जितना भी विश्लेषण किया गया है उससे कुछ आगे भी उसका विवेचन हो सकता है। बलाघात का संबंध जितना भाषा के साथ है उतना ही हमारी शारीरिक प्रतिक्रिया के साथ भी है। हमने ऊपर बलाघात के जो चार भेद बताए हैं उनमें से शारीरिक प्रतिक्रिया का सबसे अधिक संबंध वाक्य बलाघात के साथ है। शेष में से शब्द बलाघात का ही कुछ संबंध शारीरिक प्रतिक्रिया के साथ है।

वास्तव में शारीरिक प्रतिक्रिया के अभाव में वाक्य बलाघात का पूरा प्रभाव पड़ ही नहीं सकता। वाक्य बलाघात की सहायता से वक्ता जिस आवेश अथवा आज्ञा का पूरा प्रभाव डालना चाहता है उसकी सम्भावना शारीरिक प्रतिक्रिया के बिना अधूरी रहती है। नाटकों के अभिनय में अथवा फिल्म के प्रस्तुतीकरण में जिस प्रकार शारीरिक प्रतिक्रिया के बिना बलाघात जन्य भाषाई प्रभाव पूर्ण नहीं होता उसी प्रकार सामान्य जीवन में भी बलाघात जन्य प्रभाव के लिए शारीरिक प्रतिक्रिया का होना आवश्यक है। उदाहरणतया, जब कोई व्यक्ति क्रोधावेश में एक के बाद एक वाक्य में बलाघात के कारण अपनी बात कहता चला आ रहा होता है तो उस समय वक्ता, स्वयं इस बात को जाने बिना ही, अपनी शारीरिक प्रतिक्रियाओं से अपनी आवेशपूर्ण भावनाओं को सशक्त ढंग से अभिव्यक्त कर रहा होता है, शारीरिक प्रतिक्रियाएं कर रहा होता है। यही स्थिति अन्य आवेशपूर्ण अथवा आज्ञापूर्ण परिस्थितियों की भी है। एक दृष्टि से वाक्य बलाघात और तदनुरूप शारीरिक प्रतिक्रिया का प्रस्तुतीकरण एक साथ होता है।

वास्तव में जब बलाघात से युक्त भाषा का प्रयोग किया जा रहा होता है उस समय वक्ता अथवा श्रोता का इस बात पर कोई ध्यान नहीं होता कि वह किस ध्वनि, अक्षर, शब्द अथवा वाक्य पर बलाघात कर रहा होता है। पर आजकल ऐसे यंत्र बन गए हैं जिनकी सहायता से हम हर प्रकार के बलाघात का ही अंकन नहीं कर लेते अपितु यह बलाघात कितनी देर तक रहता है उसका भी अध्ययन कर लेते हैं।

6. सुर, लहर, संगम

बलाघात के अतिरिक्त सुर, लहर और संगम भी ऐसे तत्त्व हैं जो ध्वनि का महत्त्वपूर्ण अंग हैं और इसलिए ध्वनिविज्ञान के अध्ययन का विषय बन जाते हैं। इन तीनों में से सुर और लहर को एक ही वर्ग में रखा जा सकता है और इस वर्ग का संबंध एक सीमा तक बलाघात के साथ है अर्थात् हम बलाघात सुर और लहर को एक ही परिधि में रख सकते हैं। संगम एक प्रकार से अलग कोटि का ध्वनिवैज्ञानिक तत्त्व है।

बलाघात का अध्ययन करने के बाद जो महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष हमारे सामने आता है वह यह है कि हमारे उच्चारण में हर ध्वनि, अक्षर अथवा शब्द पर समान रूप से आघात नहीं पड़ता। प्रत्येक आघात दूसरे से पृथक् होता है यहीं स्थिति सुर की है। हमारे बोलने में कभी भी एक ही प्रकार के सुर का प्रभाव बहुत देर तक नहीं रहता। वह बदलता रहता है। प्रश्न उठ सकता है कि बलाघात और सुर में क्या अंतर है? जहां बलाघात का संबंध हमारी ध्वनि के उस पक्ष से है जिसे हम 'ठोस' कह सकते हैं वहां 'सुर' का संबंध हमारी ध्वनियों के उस पक्ष से हैं जिसे हम 'तरल' कह सकते हैं। आघात स्वयं में प्रहारात्मक अर्थ से जुड़ा है जबकि सुर का संबंध कम्पन से है। बलाघात में अध्ययन इस बात का होता है कि किस ध्वनि को हमने कितना जोर देकर बोला जबकि 'सुर' में अध्ययन इस बात का होता है कि किस ध्वनि के उच्चारण में स्वरतन्त्रियों में कितना कम्पन हुआ है। इसलिए जहां बलाघात का ग्राफ∨ ∨ ∨ इस प्रकार से बनता है वहां सुर का ग्राफ ~~~~~ इस प्रकार से बनता है।

सुर में ध्वनियों का आरोह अवरोह होता है। विश्व का समस्त संगीत इसी आरोह अवरोह पर टिका है। सुर में होने वाले परिवर्तन के तीन रूप माने गए हैं– उदात्त, अनुदात्त और स्वरित। इसी पाठ में इसके संबंध में ऊपर विवरण दिया जा चुका है। इस विभाजन को एक दूसरे रूप में भी रखा जा सकता है। यद्यपि सुर के अनेक भेद किए जा सकते हैं पर मुख्य रूप से इसके उच्च, मध्य (या सम) और निम्न ये तीन भेद किए जा सकते हैं। इन्हें हम वैदिक संस्कृत के उदात्त, अनुदात्त और स्वरित का समानार्थक नहीं मान सकते हैं। उदात्त का संबंध कंठ, तालु आदि उच्चारण स्थानों के ऊपरी भाग से टकराने वाले वायु के परिणामस्वरूप होने वाले उच्चारण से है। अनुदात्त का संबंध इन उच्चारण स्थानों के निम्न भाग से टकराकर निकलने वाली वायु के परिणामस्वरूप होने वाले उच्चारण से है जबकि स्वरित का संबंध इन उच्चारण स्थानों के सम भाग से टकराने वाली वायु के परिणामस्वरूप होने वाले उच्चारणों से है। इसके विपरीत उच्च, निम्न और सम का संबंध साधारण रूप से ऊंचे, नीचे और मध्य सुर में निकलने वाली ध्वनियों से है। इस तुलना से स्पष्ट है कि उदात्त, अनुदात्त आदि का उच्चारण अपेक्षाकृत अधिक लचीला और इसलिए अधिक कठिन रहा होगा। पर अंततोगत्वा वह भी सुर के ही अनेक प्रकार थे।

सुर लहर का संबंध सुर के साथ है। जहां ध्वनियों के कम्पनयुक्त आरोह-अवरोह को सुर कहा जाता है वहां उस आरोह अवरोह के क्रम को सुर लहर कहते हैं। सुर लहर के अनेक भेद होते हैं। जैसे शब्द सुर-लहर और वाक्य सुर लहर। जिन भाषाओं

में सुर के कारण अर्थ बदल जाता है उन्हें तान भाषाएं कहते हैं। वैदिक संस्कृत इसी प्रकार की एक तान भाषा थी। अफ्रीका महाद्वीप की भाषाएं प्राय: तानभाषाएं है। तानभाषाओं में शब्द सुरलहर और वाक्य सुरलहर दोनों का महत्व होता है जबकि दूसरी अर्थात् अतान भाषाओं में वाक्य सुरलहर का महत्त्व अधिक होता है, शब्द सुरलहर का कम।

ध्वनिविज्ञान में अर्थग्रहण करने में बलाघात और सुर के समान संगम का भी बड़ा महत्त्व होता है। संगम का अर्थ है ध्वनियों को इस प्रकार मिलाकर या पृथक् कर अध्ययन का विषय बनाया जाये जिससे अर्थ पर प्रभाव पड़े। उदाहरणतया एक शब्द है तुम्हारे। इसे यदि हम एक साथ 'तुम्हारे' के रूप में बोलें तो इसका एक अर्थ होगा और इसको हम 'तुम्-हारे' इस प्रकार बीच में थोड़ा विश्राम देकर बोलें तो इसके अर्थ में गुणात्मक अंतर पड़ जाएगा। भाषा में इस प्रकार के अनेक प्रयोग हम दिन रात करते रहते हैं पर चूंकि बोलते समय हमारा दृष्टिकोण हर समय भाषाई विश्लेषण का नहीं होता इसलिए हम उसकी ओर ध्यान नहीं दे पाते।

पाठ-5

ध्वनि परिवर्तन के कारण और सादृश्य

-डा. सूर्यकांत बाली

परिवर्तन भाषा की एक महत्वपूर्ण विशेषता है। इसका कारण भी है। चूंकि भाषा किसी तर्क या वैज्ञानिक निर्माण प्रक्रिया के आधार पर विकसित नहीं होती इसलिए उसमें यादृच्छिकता का तत्व सबसे अधिक महत्वपूर्ण होता है। ऐसी यादृच्छिक और तर्कातीत भाषा का एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक पहुंचना अनुकरण के अतिरिक्त अन्य किसी माध्यम की सहायता से हो ही नहीं सकता। जैसा कि भाषा की विशेषताओं का विश्लेषण करते हुए (पाठ संख्या एक में)देखा गया है। चूंकि भाषा मनुष्य को आनुवंशिकता अथवा जातीयता के आधार पर प्राप्त नही होती इसलिए मनुष्य उसको समाज से ग्रहण करता है। जिस समाज में मनुष्य रहता है वह उसी समाज की भाषा उसी समाज से सीखता है। स्वाभाविक ही है कि इस भाषा को वह उस समाज से अपने व्यवहार काल में सीखता है। जिस प्रकार वह दूसरों को इस भाषा का व्यवहार करते हुए देखता है उसी प्रकार वह उसका प्रयोग करने का प्रयत्न करता है। भाषा विज्ञान में इसी प्रयास को अनुकरण कहा जाता है।

अनुकरण के द्वारा जिस भाषा को मनुष्य सीखता है, वह अनुकरण कभी पूर्ण नहीं हो सकता। अनुकरण हमेशा अपूर्ण रहता है। इसका कारण यह है कि हर मनुष्य की सोचने और समझने की क्षमता और धारणा अपनी होती है। इसलिए वह जिस किसी कार्य अथवा व्यक्ति का अनुकरण करता है वह यह काम उतना ही कर पाता है जितनी उसकी इच्छा होती है। इसलिए किसी में विचार अथवा व्यक्ति का यथावत् अनुकरण हो ही नहीं सकता। अनुकरण की प्रक्रिया में ही अनुक्रियमाण वस्तु में परिवर्तन हो जाता है। यही सिद्धांत भाषा पर लागू होता है। चूंकि भाषा भी अनुकरण से सीखी जाती है इसलिए उसमें परिवर्तन आ जाता है और यही तत्व भाषा में परिवर्तन का निर्णायक कारण बन जाता है।

पहले भाषा के चार गठकतत्वों का विश्लेषण किया गया है। वे तत्व हैं- ध्वनि, अर्थ, पद, वाक्य भाषा इन्हीं चार तत्वों का एक पुंजीभूत आकार है और इनमें से किसी एक के भी न रहने पर भाषा का अस्तित्व भी नहीं रहता। इसलिए जब भाषा की परिवर्तन-शीलता का सिद्धांत प्रतिपादित किया जाता है तो उसमें ध्वनि, अर्थ, पद, वाक्य- इन चारों गठक तत्वों की परिवर्तनशीलता पर विचार किया जाता है। ध्वनि की परिवर्तनशीलता के कारणों के पृथक विवेचन का कोई तार्किक आधार यद्यपि नहीं है तथापि कुछ ऐसे कारण अवश्य है जो सीधे-सीधे भाषा के ध्वनिपक्ष की परिवर्तनशीलता को प्रभावित करते हैं। इसलिए भाषा की परिवर्तनशीलता के सम्पूर्ण परिप्रेक्ष्य में ध्वनि परिवर्तन के कारणों और दिशाओं का पृथक् रूप से भी विवेचन किया जाता है। यहां केवल ध्वनि परिवर्तन के कारणों का ही विवेचन किया जा रहा है। इसी प्रयोग में सादृश्य का विवेचन पृथक् और थोड़ा अधिक विस्तृत रूप से किया जायेगा क्योंकि ध्वनि-परिवर्तन का एक महत्त्वपूर्ण कारण होने के अतिरिक्त सादृश्य का भाषा-वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य एक 'कारण' की परिधि से अधिक बढ़ जाता है ध्वनिपरिवर्तन की दिशाओं और अपश्रुति का विवेचन आगे (पाठ संख्या 6 में) किया जायेगा।

ध्वनिपरिवर्तन के कारणों का विवेचन करते हुए विद्वानों ने उनके विभिन्न प्रकार के वर्गीकरण करने का प्रयत्न किया है। प्रमुख रूप से इन कारणों को आंतरिक और वाह्य- इन दो वर्गीकरणों में रखने का प्रयास किया गया है। पर कारणों के इस वर्गीकरण को किसी भी दृष्टि से तर्कपूर्ण या वैज्ञानिक नहीं माना जा सकता। चूंकि सभी कारणों का संबंध अंततोगत्वा ध्वनि से है इसलिए उनका आंतरिक बाह्य अथवा अन्य किसी वर्गीकरण में विभाजन किसी विशिष्ट उद्देश्य की पूर्ति नहीं करता। इसी प्रकार कुछ विद्वानों ने ध्वनिपरिवर्तन के कुछ कारणों का विवेचन कर कह दिया है कि अब इन कारणों को नहीं माना जाता। परन्तु वास्तविकता यह है कि चाहे इन कारणों को कुछ पाश्चात्य भाषाविद् अब न मानते हों पर इससे उन कारणों का कारणत्व खंडित नहीं होता।

इस आधार पर ध्वनिपरिवर्तन के निम्नलिखित कारण गिनवाये जा सकते हैं–ध्वनि अवयवों की विभिन्नता, ध्वनियों का अपना परिवेश, प्रयत्नलाघव, क्षिप्रभाषण, भ्रामक व्युत्पत्ति, बलाघात, शब्दों की असाधारण लम्बाई, अज्ञान, भावुकता, सहजीकरण, विदेशी भाषा का प्रभाव और सादृश्य। इसका अर्थ यह नहीं है कि इनके अतिरिक्त ध्वनि परिवर्तन के और कोई कारण हो ही नहीं सकते हैं जो ध्वनिपरिवर्तन को प्रभावित करते हैं परन्तु ये कारण प्रमुख और प्रतिनिधि कारण हैं।

1. ध्वनि-अवयवों की विभिन्नता:– ध्वनिपरिवर्तन के कारणों के विवेचन का प्रारंभ उसी विचार परम्परा को आगे बढ़ाकर किया जा रहा है जिसका संकेत अनुकरणीयता के संदर्भ में किया गया है। भाषा अनुकरण से अर्जित की जाती है और चूंकि कोई भी व्यक्ति पूर्ण अनुकरण नहीं कर पाता, इसलिए भाषा निरंतर परिवर्तन का विषय बनी रहती है। इसी भाषाई सत्य को ध्वनिपरिवर्तन के कारणों के संदर्भ में एक और प्रकार से कहा जाता है। प्रत्येक व्यक्ति के पास ध्वनि अवयव होते हैं और किसी भी एक व्यक्ति के ध्वनि अवयव दूसरे व्यक्ति के ध्वनि अवयवों के समान नहीं होते। प्रत्येक व्यक्ति के पास अपने प्रकार के ध्वनि अवयव होते हैं जो उसकी भाषा के ग्रहण की शक्ति की सीमा निश्चित कर देते हैं।

वैसे तो मनुष्य के शरीर के ध्वनितन्तुओं की संख्या तीस से अधिक बताई जाती है, किंतु यहां वाग्यंत्र और श्रवणयंत्र के रूप में दो ध्वनि अवयवों का उल्लेख किया जा रहा है। अन्यथा स्वयं वाग्यंत्र में भी अनेक ध्वनितन्तुओं का समावेश हो जाता है। वाग्यंत्र से तात्पर्य है ध्वनितन्तुओं का पूरा समुदाय जो मनुष्य को बोलने की शारीरिक क्षमता प्रदान करता है। दूसरी ओर श्रवणयंत्र का संबंध कान से है। मनुष्य भाषा का अनुकरण पहले अपने श्रवणयंत्र की सहायता से दूसरे व्यक्ति को बोलते हुए सुनकर करता है और उस सुनी भाषा को अपने वाग्यंत्र की सहायता से बोलने का प्रयास करता है।

हमने अभी ऊपर कहा है कि किन्हीं भी दो व्यक्तियों के वाग्यंत्र और ध्वनियंत्र आपस में नहीं मिलते। इसलिए जब कोई भाषा को अनुकरण की सहायता से सीखने में लगा हुआ व्यक्ति दूसरे के द्वारा बोली गई भाषा को सुन रहा होता है तो वह अपने विशिष्ट श्रवण अवयव के कारण उसे उसी रूप में ग्रहण नहीं कर पाता जिस रूप में वह भाषा दूसरे व्यक्ति द्वारा बोली जा रही होती है। इस पहली अवस्था में ही व्यक्ति भाषा में परिवर्तन कर डालता है। संस्कृत काव्यशास्त्र और दर्शनग्रंथों में इस संबंध में एक बहुत ही रोचक उदाहरण दिया जाता है कि किस प्रकार उत्तमवृद्ध किसी मध्यवृद्ध को कह रहा होता है कि गाय लाओ, या गाय बांध दो, घोड़ा लाओ तो दूर बैठा एक बालक जो उस भाषा से नितान्त अपरिचित होता है, उन दोनों व्यक्तियों के वाग्व्यवहार और तदनुसारी कर्म के आधार पर भाषा सीखने का प्रयास कर रहा होता है। इसी उदाहरण को एक अन्य रूप में समझने का प्रयास करें। मान लीजिए एक स्कूल के किसी कक्ष में कोई अध्यापक छोटे अबोध बच्चों को भाषा का ज्ञान करवा रहा होता है। वह पहले बोर्ड पर गाय का चित्र बनाकर फिर बच्चों को अपने उच्चारण से समझाता है कि यह गाय है। तब बच्चे अपने श्रवण अवयव से यह सुनते है और फिर मिलकर वाग्यंत्र से उसका उच्चारण करते हैं। चूंकि सभी बच्चों की श्रवण यन्त्र की क्षमता अपनी होती है इसलिए वे उस शब्द का ग्रहण अपनी क्षमता के अनुरूप करते हैं और चूंकि प्रत्येक बच्चे के वाग्यंत्र की क्षमता अलग होती है इसलिए वह उस गृहीत शब्द का उच्चारण भी अपने ही प्रकार से करता है। अपने ही प्रकार से भाषा का ग्रहण और अपने ही प्रकार से भाषा का उच्चारण करने के कारण वह उसका प्रयोग ठीक प्रकार से नहीं कर पाता जिस प्रकार से वह उसे प्रयोग करते हुए सुनता है। इस प्रकार ध्वनियों में परिवर्तन आ जाता है।

इस कारण से होने वाला परिवर्तन बहुत धीमा और लम्बे समय में आकार ग्रहण करने वाला होता है। इसलिए कुछ भाषा वैज्ञानिक इसको ध्वनिपरिवर्तन का कारण नहीं मानते। परन्तु यह मत ठीक नहीं है क्योंकि ध्वनिपरिवर्तन चाहे धीमा सही इस कारण से होता अवश्य है। कहा तो यह जा सकता है कि ध्वनिपरिवर्तन का यह प्रत्यक्ष और मूलभूत कारण है। हां, इतना अवश्य है कि इस कारण से होने वाला ध्वनि परिवर्तन पकड़ में नहीं आ सकता। केवल प्रयोगशाला में ही उपकरणों की सहायता से होने वाले इस परिवर्तन को परिलक्षित किया जा सकता है।

2. ध्वनियों का अपना परिवेश:– जैसा कि पहले कहा जा चुका है, ध्वनि भाषा का मूलभूत गठक तत्व है, पर निरर्थक ध्वनि भाषा की रचना करने में कोई सहायता नहीं करती। अर्थ के साथ जुड़ जाने के बाद जब कुछ सार्थक ध्वनियां पदों में और पदसमूह वाक्य में बदलता है तो उससे अर्थ की प्राप्ति होनी शुरू होती है। इससे स्पष्ट है कि प्राय: एकाधिक ध्वनियां जब अर्थसम्प्रेषण की क्षमता से युक्त हो जाती हैं तो वे भाषा का आकार ग्रहण कर लेती हैं। भाषा को आकार देने के लिए जो ध्वनियां इस प्रकार समूह में एक साथ बोली जाती हैं उनमें आपसी तात्पर्य से परिवर्तन लाने की क्षमता पैदा हो जाती है। इस तत्व को थोड़ा विस्तार से समझने की आवश्यकता है।

ध्वनियों के उच्चारण स्थान के आधार पर कंठ, तालु, मूर्धा, दन्त, ओष्ठ आदि तथा उच्चारण प्रयत्न के आधार पर अल्पप्राण, महाप्राण, घोष, अघोष, उदात्त, अनुदात्त, स्वरित आदि अनेक प्रकार के भेद किये जाते हैं। अनेक ध्वनियों को जब एक साथ उच्चारण का विषय बनाया जाता है तो अपने स्थान और प्रयत्न के आधार पर कहीं कोई ध्वनिवर्ग और कहीं दूसरा ध्वनिवर्ग शेष ध्वनियों की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली हो जाता है। जो ध्वनिवर्ग अधिक प्रभावशाली होता है वह दूसरी ध्वनियों पर अपना प्रभाव डालकर उनमें परिवर्तन कर डालता है।

उदाहरणतया संस्कृत के कुञ्चिका शब्द को लें जिसका हिंदी रूपांतर कुंजी मिलता है। इनमें प्रयुक्त ध्वनियां इस प्रकार हैं- क्+उ+ञ्+च्+इ+क्+आ। इनमें से ञ् और इ के माध्यम में प्रयुक्त च् ध्वनि का अध्ययन करें। च् को अघोष ध्वनि माना गया है। इस ध्वनि का प्रयोग ञ् और इ ध्वनियों के बीच में किया गया है और ये दोनों घोष ध्वनियां है। परिणाम यह हुआ है कि दो घोष ध्वनियों में ञ् और इ के मध्य प्रयुक्त अघोष ध्वनि च् का परिवर्तन भी घोष ध्वनि ज् में हो गया है और इस प्रकार संस्कृत कुञ्जिका का हिंदी रूपांतर कुंजी हो गया है। यह ध्वनियों के परिवेश का प्रभाव है।

ऐसे उदाहरण और भी दिए जा सकते हैं। प्राय: देखा गया है कि जिस वर्ग के अक्षर का प्रयोग शब्द में किया जाता है वह अक्षर यदि किसी भी अनुनासिक व्यंजन से पूर्व प्रयुक्त होता है तो वह स्वयं भी अपने वर्ग के अनुनासिक व्यंजन में परिवर्तित हो जाता है – उदाहरणतया- वाक्+मय शब्द में क् का प्रयोग कवर्ग से है किंतु उसका परिवर्तन अनुनासिक ड़्. में हो जाता है और शब्द बनता है वाड़्.मय। दूसरी प्रकार के परिवर्तन किम्+चन=किञ्चन, सम्+कट= सड़्.कट, कम्+ठ=कण्ठ आदि हैं जिनमें अनुनासिक में रूपांतर ध्वनि परवेश के परिणामस्वरूप ही माना जा सकता है।

ध्वनि परिवेश के परिणामस्वरूप होने वाले परिवर्तनों में सन्धि के अनेक उदाहरण दिए जा सकते हैं। उदाहरणतया, इति+आदि में इ का य् में बदल जाना और उस य् का सामने वाले आ में मिल जाना ध्वनि परिवेश के कारण होने वाला परिवर्तन है जिसे अत्यन्त स्वाभाविक परिवर्तन माना जा सकता है। तत+लीन=तल्लीन में त् का ल् में बदल जाना सामने वाली ध्वनि ल् के कारण ही सम्भव हो पाया है। इन सभी उदाहरणों के आधार पर ध्वनि परिवेश के कारण ध्वनिपरिवर्तन का अर्थ समझना कुछ कठिन नहीं रह गया है। उपर्युक्त उदाहरणों के आधार पर इसका यह अर्थ सामने आता है कि जब कोई ध्वनि किसी विशेष प्रकार के ध्वनि परिवेश में प्रयुक्त हो रही हो तो उस परिवेश अर्थात् वातावरण के कारण उसमें भी तदनुसार विशिष्ट किंतु सहज स्वाभाविक परिवर्तन पैदा हो जाता है।

3. प्रयत्न लाघव– मनुष्य अपनी इच्छा अनिच्छा से भाषा में होने वाले परिवर्तनों को बहुत अधिक प्रभावित करता है। भाषा की ध्वनि और अर्थ इन दोनों ही क्षेत्रों में उसका यह प्रयास रहता है। अर्थ के संबंध में हम पाठ संख्या 2 में देख आए हैं और आगे भी देखेंगे कि किस प्रकार मानव मन के चिंतन की दिशा का प्रभाव भाषा के अर्थ पक्ष पर पड़ता है। इस आधार पर यह निष्कर्ष भी कुछ भाषा वैज्ञानिकों विशेषकर अमेरिकन भाषा वैज्ञानिकों, द्वारा निकाल लिया जाता है कि चूंकि अर्थ का नियंत्रण, उसमें होने वाले प्रभाव और परिवर्तनों पर, मनुष्य के मन द्वारा होता है, और चूंकि मनुष्य के मन का एक वैज्ञानिक विश्लेषण कर पाने की क्षमता अभी उपलब्ध नहीं हो पाई है, इसलिए अर्थ को भाषा विज्ञान के अध्ययन का विषय ही नहीं बनाया जा सकता। इस विवाद का गंभीर अध्ययन अर्थविज्ञान के विवेचन के समय किया जायेगा। पर जहां तक ध्वनि और उसमें होने वाले परिवर्तन के अध्ययन का प्रश्न है, मनुष्य की इस इच्छा को 'प्रयत्न लाघव' या 'मनसुख' के रूप में रखा जाता है। कोई भी मनुष्य इस संसार में ऐसा नहीं है जो आराम से और सरलतापूर्वक हो जाने वाले काम को कठिनाई से करना चाहेगा। इसके विपरीत जो काम कठिनता से ही होने सम्भव हैं, मनुष्य या तो उसे छोड़ देता है या फिर उन्हें करने के सरल उपाय खोजता है। भाषा के प्रयोग की भी यही स्थिति है। मनुष्य का प्रयास रहता है कि भाषा में उन प्रयोगों को छोड़ ही दिया जाये जो कठिनाई से होते हैं या उन्हें प्रयुक्त करने के कुछ सरल उपाय ढूढ़े जाएं। इसी को भाषा विज्ञान में 'प्रयत्न लाघव' कहा गया है अर्थात् मनुष्य, लघु स्वल्प या हल्के प्रयत्नों से कठिन ध्वनियों का उच्चारण या तो करता ही नहीं है या फिर वह उन्हें इस रूप में प्रयुक्त करता है कि जिससे उसे उच्चारण करने में कोई कष्ट न हो या कम से कम कष्ट हो। इसी को 'मुखसुख' करते है। अंग्रेजी में Knife, Knowledge, आदि में 'के' का प्रयोग न करना, talk, walk,calf आदि में l का प्रयोग न करना इसी प्रवृत्ति का परिणाम हैं। संयुक्त अक्षरों के उच्चारण में बीच में स्वर का प्रयोग कर उसे सरल बना कर भक्त > भगत, स्वर्ण > सुवर्ण, धर्म > धरम जैसे प्रयोग भी मुखसुख या प्रयत्न लाघव के कारण ही होते हैं। उत्तर प्रदेश में स्कूल, स्टेशन जैसे शब्दों के आगे 'इ' लगा कर उन्हें इस्कूल या इसटेशन पढ़ना और बोलना भी इसी प्रवृत्ति का परिणाम है। इस प्रकार स्पष्ट है कि मनुष्य अपने सहज सरलता प्रेमी स्वभाव के कारण किस प्रकार भाषा में परिवर्तन कर देता है। ध्वनि परिवर्तन के कारणों में इसे इसी प्रकार महत्वपूर्ण कारण माना जाता है जिस प्रकार 'भावसाहचर्य' को अर्थ परिवर्तन का महत्वपूर्ण कारण माना जाता है।

4. क्षिप्र भाषण:– क्षिप्र का अर्थ है शीघ्र और भाषण का अर्थ है बोलना। ध्वनि परिवर्तन के अनेक कारणों में क्षिप्र भाषण को भी एक महत्वपूर्ण कारण माना जाता है। विवेचन करने पर ज्ञात होता है कि क्षिप्रभाषण को ध्वनि अवयवों की विभिन्नता और प्रयत्न लाघव जैसे पूर्व विवेचित कारणों में भी रखा जा सकता है। पर फिर भी इसे भाषा वैज्ञानिकों ने ध्वनि परिवर्तन कर

सकने वाला एक पृथक् कारण माना है। उपयुक्त दो कारणों में इसका अन्तर्भाव कर सकने के निश्चित आधार हैं। मनुष्यों के वाग्यंत्र एक दूसरे के समान होने पर भी प्रत्येक के वाग्यंत्र में दूसरे से कुछ अंतर अवश्य होता है। इसी के परिणामस्वरूप समान वाग्यंत्र वाला होने के बावजूद कोई मनुष्य धीरे बोलता है तो कोई तेज बोलता है। किसी का उच्चारण मृदु होता है तो किसी का उच्चारण कठोर होता है। इसलिए क्षिप्र भाषण को पृथक् कारण मानने के बजाय वाग्यंत्र की विभिन्नता वाले कारण में समाहित किया जा सकता है। इसी प्रकार कुछ लोग जल्दी काम निपटाने के स्वभाव में शीघ्र बोलकर अपनी बात जल्दी से जल्दी कह देने के इच्छुक और धीरे धीरे क्षिप्र भाषण के अभ्यस्त हो जाते हैं। इस आधार पर क्षिप्र भाषण को प्रयत्न लाघव के अंतर्गत भी रखा जा सकता है। पर फिर भी इसे ध्वनि परिवर्तन का एक पृथक् कारण माना जाता है।

कई बार जब मनुष्य जल्दी जल्दी बोलता है तो वह उच्चार्यमाण सभी ध्वनियों का पूरा उच्चारण नहीं कर पाता। कुछ ध्वनियों को वह अनुच्चारित ही छोड़ देता है। धीरे-धीरे वे अनुच्चारित ध्वनियां उसके अभ्यास से बाहर हो जाती है और कम ध्वनियों वाला शब्द वास्तविक लगने लगता है और इस प्रकार ध्वनि परिवर्तन हो जाता है। उदाहरणतया, कई बार बच्चे जल्दी बोलने के कारण मास्टर साहब को मास्साब और कुछ लोग इसी कारण के वशीभूत होकर पंडित जी को पंडिज्जी कह देते हैं। इस प्रकार ध्वनि परिवर्तन हो जाता है। जब ही=जभी, कब ही= कभी, तब ही=तभी ऐसे शब्द हैं जिनमें क्षिप्र भाषण के परिणामस्वरूप ध्वनि परिवर्तन हो चुका है।

अगले पाठ में 'समाक्षरलोप' नाम से एक ध्वनि प्रवृत्ति का विश्लेषण किया जायेगा। इस ध्वनि प्रवृत्ति का अर्थ यह है कि जिस शब्द में एक समान अक्षर का एक साथ उच्चारण हो रहा हो तो उसमें एक अक्षर का लोप कर देने की प्रवृत्ति पैदा हो जाती है। जैसे – संवाददाता, खरीददार इन दोनों शब्दों में द अक्षर का प्रयोग एक साथ दो बार हुआ है। इसलिए इनमें से एक का लोप कर संवादाता, खरीदार इस रूप में उच्चारण करने की प्रवृत्ति बन जाती है। कहा जा सकता है कि समाक्षर सदृश ध्वनि परिवर्तन की दिशा क्षिप्र भाषण जैसे कारणों के परिणामस्वरूप ही सम्भव हो पाती है।

5. **भ्रामक व्युत्पत्ति**– ध्वनि परिवर्तन का यह कारण जितना महत्वपूर्ण है उतना ही रोचक भी है। भ्रामक व्युत्पत्ति का अर्थ है किसी शब्द के अर्थ का वह आधार मान लेना जो वास्तव में उसका आधार नहीं है। यद्यपि हम शब्दों का प्रयोग भाषा प्रयोग के दौरान बड़े ही सहज स्वाभाविक रूप में करते रहते हैं तथापि हमारे अवचेतन में कहीं न कहीं उस शब्द की व्युत्पत्ति और व्युत्पत्तिसम्मत अर्थ भी निहित रहता है। भाषा विज्ञान में इस व्युत्पत्ति शास्त्र को निरुक्त शास्त्र या निर्वचन शास्त्र कहा जाता है। यह बात ध्यान में रहनी चाहिये कि भाषा के प्रयोग में निर्वचन या व्युत्पत्ति का ध्यान वक्ता को हर समय नहीं रहता। परन्तु अवचेतन में कहीं न कहीं उसका प्रभाव रहता ही है इसमें भी कोई संदेह नहीं है। इसी आधार पर जब वक्ता कुछ ऐसे शब्द सुनता है जो उसकी अपनी भाषा के नहीं होते या उसने कभी सुने हुए नहीं होते तो वह उनका अर्थ ग्रहण करने के लिए उसकी किसी व्युत्पत्ति की कल्पना करने का प्रयास करता है। निश्चित ही है कि यह व्युत्पत्ति सही या सटीक नहीं होती। यह व्युत्पत्ति काल्पनिक और भ्रामक ही होती है पर यह भ्रामक व्युत्पत्ति के आधार पर वक्ता अपरिचित शब्दों को अपनी भाषा के हिसाब से ऐसा रूप दे देता है कि वे ध्वनि परिवर्तन का उल्लेखनीय उदाहरण बन जाते हैं। जैसे अंग्रेजी शब्द 'एडवांस' का हिंदी देहाती रूपांतर 'अडवांस' चलता है। एडवांस शब्द में, कुछ पैसा या सामग्री पहले से ही देने का अर्थ निहित है और अडवांस में कुल देय का आठवां हिस्सा देने का अर्थ परिलक्षित हो रहा है। इस भ्रामक व्युत्पत्ति के आधार पर कि एडवांस में देय का आठवां हिस्सा दे देना होता है, एडवांस का देहाती हिन्दी रूपांतर अडवांस हो गया है। इसी भ्रामक व्युत्पत्ति के आधार पर 'क्रिसमिस डे' का 'किसमिस डे', 'हू कम्स देअर' का हुकुम सदर, 'लायब्रेरी' का 'रायबरेली' हो गया है। यद्यपि भ्रामक व्युत्पत्ति को ध्वनिपरिवर्तन का महत्वपूर्ण कारण माना गया है, तथपि उसके कारण बनने वाले शब्दों की संख्या बहुत सीमित हैं क्योंकि भ्रामक व्युत्पत्ति का प्रभाव क्षेत्र और उसकी परिधि ही बहुत सीमित है।

6. **बलाघात**– बलाघात का अर्थ है शब्द, पद अथवा वाक्य के किसी विशेष अंश अथवा अंग पर अवशिष्ट भाग की अपेक्षा विशेष बल का आघात करना। इसके कारण अर्थ में किस प्रकार परिवर्तन आता है इसका विवेचन पीछे किया जा चुका है। बलाघात को ध्वनि परिवर्तन का भी एक महत्वपूर्ण कारण माना जाता है। यह स्वाभाविक भी है। एक सार्थक शब्द में प्रायः एक से अधिक ध्वनियों का प्रयोग किया जाता है। उच्चारणकर्ता के लिए यह शारीरिक और मानसिक रूप से सम्भव ही नहीं है कि वह सब पर समान रूप से बल का आघात करे। परिणामस्वरूप वह प्रत्येक शब्द के किसी अंश पर अन्यों की अपेक्षा अधिक बल का प्रयोग करता है अर्थात् कुछ ध्वनियों के उच्चारण में वह अन्यों की अपेक्षा अधिक दबाव डालता है।

बलाघात की इस प्रक्रिया का ध्वनि परिवर्तन का कारण बनना अवश्यंभावी है। स्वाभाविक ही है कि जब एक ध्वनिसमूह में किसी एक ध्वनि पर अन्य ध्वनियों की अपेक्षा अधिक दबाव पड़ता रहेगा तो धीरे धीरे उसके उच्चारण में भी अंतर पड़ना प्रारम्भ हो जायेगा और यह उच्चारणगत अंतर अंततोगत्वा ध्वनिपरिवर्तन के रूप में सामने आयेगा। इसके परिणामस्वरूप होने वाले परिवर्तन के अनेक उदाहरणों में से सर्वश्रेष्ठ शब्द है अभ्यन्तर और उपाध्याय जो बलाघात के कारण होने वाले परिवर्तन से क्रमशः भीतर और ओझा बन गए हैं। अभ्यन्तर के उच्चारण में बलाघात शब्द के बीचों बीच है जिसका परिणाम यह हुआ है कि क्रमशः य् का परिवर्तन उसके संप्रसारण स्वर इ मे होकर फिर उसका उसी बलाघात के परिणामस्वरूप दीर्घीकरण भी हो गया है। उपाध्याय, पाध्याय ओझा झा हो गया है। इसी बलाघात का परिणाम है कि पंजाबी में हर उस हिंदी शब्द में जहां प्रथम दीर्घ आ है और उसके पीछे फिर दीर्घ अक्षर है तो आ का अ हो गया है। जैसे आलोचना> आलोचना, आकाश> अकाश, आयात> अयात इत्यादि। इसी बलाघात का परिणाम है कि बंगला में हर प्रारम्भिक ह्रस्व अ का उच्चारण ओ के समान हो गया है। इस प्रकार विभिन्न परिस्थितियों में बलाघात के कारण कई प्रकार के ध्वनिपरिवर्तनों के उदाहरण प्राप्त हो जाते हैं।

7. शब्दों की असाधारण लम्बाई– जहां कहीं भी कोई शब्द ऐसा हो जो सामान्य शब्दों की अपेक्षा असाधारण रूप से लम्बा हो तो वक्ता की इच्छा प्रायः उसे छोटा करके बोलने की होती है। इस प्रक्रिया में ध्वनियों का परिवर्तित हो जाना और शब्द का आकार बदल जाना स्वाभाविक ही है। ऐसा माना जा सकता है कि क्यों न इस कारण को प्रयत्न लाघव का ही दूसरा रूप कह दिया जाए। शब्दों को इसलिए छोटा करके बोलना कि वे इतना अधिक बृहद आकार के हैं कि उन्हें पूरे रूप में बोलने में काफी आयास करना पड़ता है, एक प्रकार का प्रयत्न लाघव ही है इसलिए इसे मुखसुख या प्रयत्न लाघव का एक अंग मानते हुए भी पृथक् कारण के रूप में इसलिए गिनाया जाता है ताकि एक विशेष प्रकार के शब्दों के ध्वनिपरिवर्तन को पृथक रूप से रेखांकित किया जा सके।

असाधारण लम्बाई वाले शब्दों का ध्वनिपरिवर्तन मुख्य रूप से दो प्रकार का होता है। कुछ शब्द वे होते है जो असाधारण लम्बाई वाले होने के कारण बिगड़ी ध्वनियों की सहायता से छोटे कर दिये जाते हैं। इसके अतिरिक्त कुछ लम्बे शब्दों को कुछ संकेत चिन्हों की सहायता से छोटा कर दिया जाता है। पहले वर्ग के शब्दों में यूनिवरसिटी, सुपरिन्टेन्डेन्ट, एग्जेक्यूटिव जैसे कठिन और लम्बे आकार के शब्द हैं जिनकी ध्वनियों को बिगाड़कर लोग प्रायः यूनिस्टी, सुपरिन्डेन्ट, एग्जेक्टिव वगैरह बोलना शुरू कर देते हैं और यदि वैयाकरण शुद्ध उच्चारण का अपना आग्रह छोड़ दें तो ये परिवर्तित ध्वनियां ही धीरे धीरे वास्तविक लगने लग जाती हैं।

दूसरे वर्ग में असाधारण रूप में लम्बे शब्द आते हैं जिनके सरल उच्चारण के लिए स्थायी संकेत चिन्हों की सहायता ले ली जाती है। दिल्ली ट्रांसपोर्ट कोरपोरेशन के लिए डी. टी. सी. शुक्ल दिवस और वलक्ष (कृष्ण) दिवस के स्थान पर ज्योतिषियों द्वारा प्रयुक्त किए जाने वाले दो शब्द शुदि और बदि शतक्रतु (इन्द्र) के लिए शक्र, आंतरिक सुरक्षा कानून के लिए आसुका, उत्तर पूर्वी सीमा के लिए उपूसी जैसे शब्द इसी वर्ग में आते हैं। राजनीतिक दलों में डी. एम. के. भालोद, जपा, भाजपा, भाकपा माकपा जैसे शब्द और कार्यालयों में जी. एम., एम. डी., पी. ए., पी. एस. सदृश शब्द भी दूसरे वर्ग के है जिनकी असाधारण लम्बाई को सांकेतिक शब्दों की सहायता से छोटा कर दिया गया है।

8. अज्ञान– अज्ञान से उत्पन्न होने वाला ध्वनिपरिवर्तन उसी प्रकार का है जिस प्रकार भ्रामक व्युत्पत्ति से उत्पन्न होने वाला ध्वनिपरिवर्तन होता है। भ्रामक व्युत्पत्ति में भाषा का प्रयोक्ता अपनी ओर से ध्वनियों और अर्थ का तालमेल बैठाकर उसके किसी मूल अर्थ को सही मानकर ध्वनिपरिवर्तन कर डालता है। इसके विपरीत अज्ञान के वशीभूत भाषा प्रयोक्ता गलत प्रयोग करता है बिना यह जाने कि वह गलत प्रयोग कर रहा है।

अज्ञान के कारण होने वाले ध्वनिपरिवर्तन प्रायः उन शब्दों में होते हैं जिनका उच्चारण कठिन हो, या जो शब्द सांस्कृतिक पुनरुत्थान के कारण फिर से प्रयोग में आना शुरू हो गये हों या किसी विदेशी शब्द का आयात प्रयोक्ता की भाषा में हो गया हो। असाधारण लम्बाई वाले जिन शब्दों के रूपान्तरणों के उदाहरण ऊपर दिए गए हैं उनमें एग्जेक्यूटिव >एग्जेकुटिव जैसे शब्दों को अज्ञान के वशीभूत हुए ध्वनिपरिवर्तन भी माना जा सकता है। इसी सूची में ओवरसियर का ओसियर, कम्पाउंडर का कम्पोडर और डिस्ट्रिक्ट बोर्ड का डिस्टीबोर शब्द भी आ जाते हैं। डॉ. भोलानाथ तिवारी का मानना है गंगा का अंग्रेजी रूपांतर गैंजिज अज्ञान के कारण हुआ है। उनके मतानुसार अंग्रेजी में 'गंगाजी' सुना और अपने संस्कृत और देशी भाषाओं के अज्ञान के वशीभूत होकर उन्होंने इसे गैंजिज कहना शुरू कर दिया। अज्ञान के कारण होने वाले ध्वनिपरिवर्तनों की परिधि बहुत विस्तृत है।

9. भावुकता– अभी भाषाविज्ञान इस बात का पूरा पूरा अनुमान नहीं लगा पाया है पर मनुष्य के जीवन में भावुकता का जो स्थान है उसे देखकर ऐसा कहा जाता है कि इसके आधार पर ध्वनियों के उच्चारण पर पर्याप्त प्रभाव पड़ता होगा। हम सभी लोग जानते ही हैं कि मनुष्य के जीवन का अधिकांश भाग भावुकता और हृदय के पथनिर्देश में बीतता है और मस्तिष्क तथा बुद्धि से हर कर्तव्याकर्तव्य को नापतौल करने के अभ्यस्त लोग प्राय: नहीं होते। माता पिता का अपनी सन्तान के साथ दैनिक व्यवहार प्राय: भावुकता के सहारे ही होता है। उसी प्रकार पति, पत्नी, मित्रों, भाई बहनों, गुरु शिष्य के बीच का दैनिक व्यवहार भी भावुकता की परिधि को प्राय: लांघ नहीं पाता।

इसके आधार पर होने वाले प्रचुर ध्वनिपरिवर्तन की कल्पना सहज ही की जा सकती है। पर ऐसे ध्वनिपरिवर्तनों को वैज्ञानि अध्ययन का विषय बना पाना सम्भव नहीं है। इसका कारण यह है कि यद्यपि भावुकता के कारण ध्वनिपरिवर्तन करने की प्रवृ बहुत अधिक रहती है तथापि ये परिवर्तन इतने सीमित दायरे में होते हैं कि उनका प्रभाव उस परिधि से बाहर प्राय: नहीं हो एक माता का अपने बेटे के साथ जिस प्रकार का मधुर ध्वनियुक्त व्यवहार होता है वह उसकी व्यवहार परिधि से बाहर न होता। इस प्रकार एक माता का अपनी सन्तान के प्रति व्यवहार उसकी परिधि में सिमटा रहता है। इसलिए मिनी, मित्रा शब्द जो स्नेहसूचक ध्वनियों से युक्त होते हैं किसी अतिविस्तृत सीमा को स्पर्श नहीं करते। इसी प्रकार इन शब्दों की कोई प्र परम्परा भी नहीं होती। बच्चों के बड़े हो जाने के बाद शायद ही कोई माता भावुकता के कारण बदली ध्वनियों का फिर प्रयोग करती है इसलिए सीमित प्रयोग परिधि के कारण और प्रयोग परम्परा के अभाव के कारण भावुकताजन्य ध्वनिपरि कोई निश्चित ध्वनिपरिवर्तन नहीं कर पाते यद्यपि भावुकता के कारण ध्वनिपरिवर्तन अपेक्षाकृत पर्याप्त होता है।

10. सहजीकरण– कुछ भाषाएं इतनी अधिक समृद्ध होती हैं कि वे दूसरी भाषाओं के शब्दों को अपने ध्वनिपरिवे इस प्रकार ढाल लेती है कि विदेशी भाषा के शब्द भी उस भाषा के अपने सहज शब्द लगने लग जाते हैं। इसे हम भाषावि में सहजीकरण के नाम से जानते हैं। अंग्रेजी भाषा ने हिंदुस्तानी के सलाम, फकीर ठग जैसे शब्दों को तथा संस्कृत के पं आत्मा जैसे शब्दों को अपना सहज अंग बना लिया है। यही स्थिति हिन्दी की भी है। हिंदी में अंग्रेजी एकेडेमी का अका टैकनीक का तकनीक, ट्रेजेडी का त्रासदी, कौमेडी का कामदी शब्द ऐसे बन गए हैं जो अब हिन्दी के अपने ही सहज प्रतीत होते हैं।

आवश्यक नहीं कि सहजीकरण की यह प्रवृत्ति विदेशी भाषा के शब्दों के विषय में ही हो। एक ही देश की विभिन्न भा में भी परस्पर सहज आदान-प्रदान हो सकता है। इसी आधार पर हम प्राकृत के संकट, विकट, प्रकट जैसे उदाहरण ले हैं जो संस्कृत भाषा का सहज अंग बन गए हैं।

11. सादृश्य– ध्वनिपरिवर्तन का एक महत्त्वपूर्ण कारण होने के अतिरिक्त सादृश्य का कुछ और अधिक महत्त्व भी है। न केवल ध्वनि के अपितु अर्थ के विवेचन में भी सादृश्य का स्थान महत्त्वपूर्ण है। अर्थ विज्ञान सम्बन्धी पाठ (सं. 8)में भी इस तत्त्व की विवेचना की जायेगी पर चूंकि ध्वनि पर सादृश्य का स्वाभाविक और अधिक प्रभाव होता है अत: यहां भी सादृश्य का पूरा विवेचन किया जा रहा है।

ध्वनिपरिवर्तन में सादृश्य किस प्रकार एक कारण के रूप में सामने आता है, इस पर विचार करने से पूर्व यह जानना आवश्यक है कि 'सादृश्य' क्या है? सादृश्य का अर्थ है समानता, बराबरी, एक जैसा होना अर्थात् जहां दो वस्तुएं, घटनाएं या तत्त्व एक समान दिखाई दें वहां उन दोनों में सादृश्य माना जाता है।

भाषाविज्ञान में सादृश्य का प्रयोग उस अवस्था में किया जाता है जब किन्हीं समान ध्वनियों या समान स्थितियों में पड़े शब्दों में एक जैसा परिवर्तन हो जाए। उदाहरणतया, ग्यारह के लिए संस्कृत शब्द होना चाहिए 'एकदश' परन्तु हम उसका प्रयोग करते हैं–एकादश। प्रश्न उठता है कि एकादश में क् के साथ ह्रस्व अ (एक) के स्थान पर दीर्घ आ (एका) का प्रयोग कैसे हो गया? भाषाविज्ञान इसका उत्तर इस प्रकार देता है कि चूंकि बारह के लिए संस्कृत शब्द 'द्वादश' है इसलिए उसके 'द्वा' के ध्वनिसादृश्य पर एकादश में भी एक का एका हो गया है।

एक और उदाहरण लें । संस्कृत में एक शब्द है पति । ह्रस्व इकारान्त होने के कारण इसके शब्दरूप अन्य इकारान्त शब्दों की तरह चलते हैं–पति:, पतिम्, पत्ये, पते:, पतौ:। पर इसमें एक अन्तर भी आ जाता है। षष्ठी एकवचन में इसका रूप पते: से साथ-साथ पत्यु: भी मिल जाता है। प्रश्न उठता है कि जब शेष इकारान्त पुँल्लिंग शब्दों में षष्ठी विभक्ति एकवचन के रूप पते: के समान ही मिलते हैं, पत्यु: के समान नहीं तो अकेले पति शब्द का षष्ठी एकवचन रूप पत्यु: कैसे चल पड़ा?

इस प्रश्न का उत्तर भी सादृश्य में ढूंढा जाएगा। भाषाविज्ञान सादृश्य के आधार पर इसका कारण यह बताता है कि पति शब्द षष्ठी एकवचन पत्युः रूप पितुः, मातुः, स्वसुः, दुहितुः, आदि शब्द रूपों के सादृश्य पर बना है। इन शब्दों में मूल शब्द पितृ, मातृ, स्वसृ, भ्रातृ, आदि हैं और अन्य ऋकारान्त शब्दों के समान इन सभी के षष्ठी एकवचन रूप पितुः स्वसुः आदि बनते हैं। स्पष्ट है कि पति शब्द इकारान्त है, ऋकारान्त नहीं, इसलिए उसके रूप अलग प्रकार से ही स्वाभाविक रूप से चलते हैं। पर एक सादृश्य भी है। जिस प्रकार पितृ, मातृ, स्वसृ दुहितृ आदि शब्द पारिवारिक सम्बन्धवाची हैं, उसी प्रकार पति शब्द भी पारिवारिक सम्बन्ध का वाचक है। इसलिए इसी पारिवारिक सम्बन्धवादिता के स्पष्ट सादृश्य के आधार पर पति शब्द का षष्ठी रूप ऋकारान्त शब्दों के समान पत्युः हो गया है।

भाषा विज्ञान में पहले सादृश्य का नाम 'मिथ्या सादृश्य' अर्थात् 'फाल्स एनालॉजी' था। इसका कारण यह था कि वैसे तो ध्वनि के अन्तर्गत जितने भी परिवर्तन होते हैं उनमें कोई न कोई ठोस शारीरिक, सामाजिक या परिवेश-गत कारण रहता है, पर एकादश-द्वादश, पितुः पत्युः जैसे परिवर्तनों के पीछे ऐसा परिवर्तन हो जाने को वास्तविक भाषाई परिवर्तन न कहकर एक प्रकार का मिथ्या भाषाई परिवर्तन कहा गया और इस परिवर्तन के कारण को मिथ्या और अवास्तविक कारण माना गया। इसलिए इसे मिथ्या सादृश्य कहा गया।

परन्तु जैसे-जैसे समय बीतता गया, भाषा वैज्ञानिकों में दो प्रकार की धारणाओं का विकास हुआ। पहली धारणा यह विकसित हुई कि ऐसा क्यों माना जाए कि सादृश्य के कारण होने वाले परिवर्तन वास्तविक नहीं मिथ्या हैं क्योंकि उसे मिथ्या मानने का कोई ठोस आधार नहीं है। दूसरी धारणा यह बनी कि अगर विशिष्ट बौद्धिक स्तर पर परीक्षा करें तो सादृश्य ही नहीं अन्य किसी भी कारण से होने वाले भाषाई परिवर्तनों को मिथ्या ही माना जाएगा, वास्तविक नहीं। फिर अकेले सादृश्य और उसके कारण होने वाले परिवर्तनों को ही मिथ्या क्यों माना जाए? इन धारणाओं के आधार पर 'मिथ्या सादृश्य' में से मिथ्या शब्द हटा दिया गया और केवल सादृश्य शब्द का प्रयोग किया जाने लगा।

सादृश्य के कारण परिवर्तन अनेक शब्दों में दिखाई देता है। संस्कृत में दो शब्द हैं–स्वर्ग और नरक, पर अब स्वर्ग के सादृश्य पर नर्क और नरक के सादृश्य पर स्वरग का प्रयोग भी कुछ क्षेत्रों में होने लगा है। देहाती के सादृश्य पर शहराती का प्रयोग भी अब हिन्दी में चल पड़ा है जबकि इसका सही रूप शहरी होना चाहिए। आधुनिक संस्कृत में पौर्वात्य के सादृश्य पर पाश्चात्य शब्द का प्रयोग होने लग गया है जबकि इसका वास्तविक और स्वाभाविक उच्चारण पश्चिम के आधार पर पश्चिमात्य होना चाहिए।

कुछ विद्वानों का कहना है कि केवल ध्वनिपरितर्वन पर ही सादृश्य का प्रभाव दिखाई नहीं देता अपितु रूप सादृश्य और कार्य सादृश्य के कारण भी कई बार परिवर्तन दृष्टिगोचर हो जाते हैं। ऐसे विद्वानों का मानना है कि "घड़े का मुँह, सुराही की गर्दन, आरी के दाँत, नदी का पेट, सितार के कान, सुई का मुँह, ईख की आँख, पेड़ का धड़, कुर्सी का हाथ, मेज का पैर आदि" भी इसी सादृश्य के आधार पर प्रयोग में लाये जाते हैं। इस प्रयोग को मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए, पर वास्तव में ये उदाहरण परिवर्तन के नहीं, प्रयोग के हैं।

केवल ध्वनि परिवर्तन ही नहीं अर्थपरिवर्तन पर भी सादृश्य का प्रभाव पड़ता है। परन्तु इस बारे में दो बातें बिल्कुल स्पष्ट हैं। एक यह कि सादृश्य के आधार पर जितनी अधिक परिवर्तन की सम्भावना ध्वनि के क्षेत्र में रहती है, उतनी अर्थ के क्षेत्र में नहीं होती क्योंकि ध्वनि का अनुकरण हमेशा आसान रूप से उपलब्ध रहता है, अर्थ का उतना सरलतापूर्वक उपलब्ध नहीं रहता। इसलिए भाषावैज्ञानिक सादृश्य के कारण होने वाले ध्वनिपरिवर्तनों के जितने उदाहरण खोज पाये हैं उतने अर्थ-परिवर्तन के नहीं। सादृश्यमूलक अर्थपरिवर्तन का एक मूर्धाभिषिक्त उदाहरण प्रश्रय-आश्रय के रूप में सामने आया है। प्रश्रय का अर्थ है विनम्रता, और आश्रय का अर्थ है शरणागति। परन्तु अब प्रश्रय का अर्थ भी आश्रय के अर्थ के सादृश्य पर शरणागति हो गया है।

दूसरी बात यह है कि सादृश्य के आधार पर जहाँ कहीं भी अर्थ परिवर्तन होता है वहाँ भी उन दो शब्दों के मूल में कहीं न कहीं ध्वनिगत साम्य रहता ही है। जैसे ऊपर दिए उदाहरण की ही परीक्षा करें। प्रश्रय और आश्रय में जो अर्थपरिवर्तन और अर्थसाम्य पैदा हो पाया है उसके मूल में कहीं न कहीं 'श्रय' ध्वनियों का विलक्षण साम्य भी एक कारण है। इस आधार पर यह सहज ही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि अर्थपरिवर्तन के साथ सम्बद्ध होने के बावजूद सादृश्य का सम्बन्ध मुख्य एवं मूल रूप से ध्वनि के साथ ही है।

यद्यपि यहां सादृश्य को ध्वनिपरिवर्तन के कारण के रूप में ही प्रस्तुत किया गया है और आगे चलकर इसे अर्थपरिवर्तन का भी एक कारण बताया जायेगा, पर भाषाविज्ञान में इस बात पर लम्बी बहस चली है कि सादृश्य वास्तव में एक कारण है या परिणाम। भाषावैज्ञानिकों में इस बात को लेकर कोई सर्वसम्मत निष्कर्ष नहीं निकल पाया है। जो भाषावैज्ञानिक सादृश्य को एक कारण नहीं परिणाम मानते हैं उनका मानना है कि अनेक कारण सादृश्य मूलक परिवर्तनों को प्रभावित करते हैं। जैसे–यदि किसी शब्द के उच्चारण में कठिनाई पैदा हो रही हो तो हमारा प्रयास होता है कि हम उस जैसा कोई सरल शब्द खोजकर उस कठिन शब्द को वैसा ही सरल बनाने का प्रयास करते हैं। पाश्चात्य-पौर्वात्य को इसी श्रेणी का परिवर्तन माना गया है। इस प्रकार अभिव्यंजना में कठिनाई को दूर करने की इच्छा सादृश्यमूलक परिवर्तन करने की प्रेरणा पैदा करती है। इसी प्रकार कुछ अभिव्यक्तियों में अधिक स्पष्टता लाने के लिए भी सादृश्य का आश्रय लिया जाता है। उदाहरणतया, विभिन्न भाषाओं के प्रत्ययों का प्रयोग अधिक स्पष्टता से कराने के लिए उन शब्दों में भी कर दिया जाता है जहां उसका प्रयोग अन्यथा हो सकना सम्भव नहीं होता। यह सादृश्य की स्थिति उत्पन्न करता है। ऐतिहासिक के स्थान पर इतिहासिक इसीलिए प्रयोग में आना प्रारम्भ हो गया है। कई बार पांडित्य प्रदर्शन के लिए सादृश्य का आश्रय लिया जाता है। जैसे कुछ अहंकारी विद्वानों द्वारा इच्छा के लिए ईक्षा शब्द का प्रयोग दीक्षा और परीक्षा के सादृश्य पर केवल पाण्डित्य प्रदर्शन के लिए ही किया जाता है। ये तर्क उन विद्वानों के हैं जो सादृश्य को कारण नहीं परिणाम मानते हैं।

सादृश्य के सम्बन्ध में एक रोचक प्रश्न यह उठता है कि इसका आरम्भ कब से हुआ। भाषा वैज्ञानिक कर्टियस और ब्रील ने इस पर काफी विचार किया है, पर दोनों विद्वानों के मत एक दूसरे के साथ मेल नहीं खाते। कर्टियस और उनके अनुयायियों का मानना है कि सादृश्य का प्रयोग और प्रभाव उस समय प्रारम्भ होता है जब भाषा अपने विकास की एक विशेष अवस्था प्राप्त कर चुकी होती है। उनका तर्क यह है कि सादृश्य को अपना प्रभाव दिखाने के लिए किसी मॉडल या आदर्श की आवश्यकता होती है और उसका उपलब्ध होना तब तक सम्भव नहीं जब तक भाषा एक सीमा तक विकसित न हो चुकी हो। उदाहरण के तौर पर, पति शब्द का षष्ठी एकवचन रूप पतेः के अतिरिक्त पत्युः भी बना है तो यह तभी सम्भव हो पाया है कि पितुः, मातुः, स्वसुः, जैसे रूप पहले ही मॉडल के रूप में उपलब्ध थे जिनके सादृश्य पर यह परिवर्तन हुआ होगा। इसके विपरीत भाषाशास्त्री ब्रील का कहना है कि सादृश्य का प्रारम्भ भाषा के प्रारम्भ के साथ ही हो गया होगा। ऐसे विद्वानों का तर्क यह है कि सादृश्य मनुष्य की सहज प्रवृत्ति है जो प्रत्येक क्षेत्र में उसके जन्म के साथ ही प्रारम्भ हो जाती है। फिर भाषा के क्षेत्र में उसका प्रभाव कैसे विलम्बित हो सकता है।

सूक्ष्म रूप से देखा जाए तो कर्टियस और ब्रील इन दोनों के मत में परस्पर विरोध न होकर परस्पर पूरकता है। सादृश्य मनुष्य की सहज प्रवृत्ति है, उसका मूल स्वभाव है। किन्हीं भी दो परिस्थितियों अथवा मनुष्यों की तुलना किए बिना वह रह नहीं सकता। इसलिए भाषा के प्रारम्भ के साथ तो क्या इस पृथ्वी पर मनुष्य के साथ ही सादृश्य का प्रारम्भ हो गया होगा। मर इतना निश्चित है कि भाषा में सादृश्य मूलक परिवर्तनों का प्रारम्भ भाषा के एक स्तर तक विकसित हो जाने के बाद ही हुआ होगा। इस तर्क में शक्ति है कि भाषा में सादृश्य को प्रवर्तित होने के लिए कुछ भाषाई रूप पहले से ही उपलब्ध रहने चाहिए जो भाषा के विकास की एक विशेष अवस्था के बाद ही सम्भव हैं।

पाठ-6
ध्वनि परिवर्तन की दिशाएं और अपश्रुति

पिछले दो पाठों में यह बताया गया है कि ध्वनि विज्ञान के अन्तर्गत किन-किन विषयों और पक्षों का अध्ययन होता है और ध्वनि परिवर्तन के क्या कारण हैं। ध्वनि परिवर्तन के कारणों का विश्लेषण करते हुए सादृश्य पर विशेष ध्यान दिया गया है। ध्वनि का परिवर्तन किन दिशाओं में होता है? इसका विवेचन प्रस्तुत पाठ में किया जायेगा।

भाषा में ध्वनिपरिवर्तन तो होता ही है, प्रश्न उठता है कि वह परिवर्तन कैसा होता है। ध्वनि में परिवर्तन जिस तरह का होता है, उसे ही ध्वनिपरिवर्तन की दिशा कहा जाता है। इसी को भाषा विज्ञान में ध्वनि प्रवृत्ति भी कहा जाता है क्योंकि इससे ज्ञात होता है कि ध्वनि में परिवर्तन होने की प्रवृत्ति किस ओर है। उदाहरण के लिए- संस्कृत की ध्वनियों का जब पालि में परिवर्तन होता है तो संस्कृत शब्दों में उपलब्ध होने वाले संयुक्त व्यंजनों का पालि में परिवर्तन विशेष प्रकार से होता है जैसे संस्कृत के शब्द 'भक्त, पुत्र एवं मित्र' पालि में भत्त पुत्र और मित्त बन जाते हैं। इन सभी उदाहरणों में संयुक्त व्यंजन से पहले अक्षर की ध्वनि दूसरे अक्षर की ध्वनि के समान हो गई है। इसे भाषा विज्ञान में समीकरण कहा जायेगा। कहने का तात्पर्य यह है कि संस्कृत के संयुक्त व्यंजनों के मध्यकालीन आर्य भाषाओं में परिवर्तन के समय समीकरण की प्रवृत्ति दिखाई देती है।

ध्वनि परिवर्तन की दिशा या ध्वनि प्रवृत्ति के संबंध में एक महत्वपूर्ण प्रश्न यह उठता है कि क्या किसी ध्वनि परिवर्तन की दिशा के बारे में पहले से कुछ कहना सम्भव है, अर्थात् क्या पहले से ही यह बताना सम्भव है कि किसी शब्द में किस ध्वनि का परिवर्तन किस प्रकार होगा। इस प्रश्न का उत्तर निषेधात्मक है। यद्यपि हमारे ही सामने सभी ध्वनि प्रवृत्तियों का विस्तृत विवेचन उपलब्ध रहता है, तथापि यह बताना हमेशा ही कठिन होता है कि किस ध्वनि के परिवर्तन की दिशा क्या होगी। ध्वनि परिवर्तन हो जाने के बाद ही उसकी दिशा का निर्धारण करना सम्भव होता है।

ध्वनि परिवर्तन की अनेक दिशाएं होती हैं। भारत में 7 वीं सदी ईसा पूर्व से भी पहले लिखे गए यास्काचार्य के निरुक्त में ध्वनिपरिवर्तन की इन प्रवृत्तियों की ओर स्पष्ट संकेत किया गया है। "वर्णागमो वर्णविपर्ययश्च द्वौ चापरौ वर्णविकारनाशौ" इत्यादि कारिका में यास्क ने वर्णागम, विपर्यय, विकार, लोप आदि ध्वनि प्रवृत्तियों का विश्लेषण उदाहरण देकर किया है। यहां इन्हीं और कुछ इसी तरह की ध्वनि परिवर्तन की दिशाओं का उदाहरणों सहित विवेचन किया जायेगा।

1. **आगम**— आगम का अर्थ है आना अर्थात् जब किसी ध्वनि के सरलीकरण लिए हम उसमें किसी अन्य ध्वनि को मिला देते हैं तो उसे आगम कहा जाता है। सरलीकरण या मुखसुख के कारण पैदा होने वाली यह ध्वनिपरिवर्तन की सबसे महत्वपूर्ण दिशा है। अंग्रेजी में इसे Augmentation कहते हैं।

आगम नामक ध्वनि प्रवृत्ति का अध्ययन कई प्रकार से हो सकता है। आगम स्वर का भी हो सकता है और व्यंजन का भी हो सकता है। इन्हें क्रमशः स्वरागम और व्यंजनागम कहते हैं। इन दोनों में ही आगम प्रारम्भ में मध्य में और अंत में होता है। इस प्रकार कुल मिलाकर छह प्रकार का आगम होता है। यहां इन सभी भेदों का सोदाहरण विवेचन किया जा रहा है।

आदिस्वरागम— को अंग्रेजी में Prothesis कहते हैं। जब किसी शब्द का उच्चारण सरलतापूर्वक करने में कठिनाई हो रही हो तो उसमें सरलता पैदा करने के लिए शब्द के प्रारंभ में एक स्वर का आगम कर दिया जाता है। इसमें दो बातें उल्लेखनीय हैं। पहली बात यह है कि अधिकतर उदाहरणों में आदिस्वरागम वहां देखा जाता है जहां प्रारम्भ किसी संयुक्त व्यंजन से हो रहा हो। दूसरी ध्यान देने योग्य बात यह है कि प्रायः यह आगम स्वर ह्रस्व अकार अथवा ह्रस्व इकार होता है जैसे स्कूल इस्कूल, स्टेशन इस्टेशन, स्नेह इस्नेह, स्नान अस्नान इत्यादि। संस्कृत स्त्री का प्राकृत इस्त्री में परिवर्तन आदि स्वरागम नामक ध्वनिप्रवृत्ति का प्रतीक माना जाता है।

मध्यस्वरागम— का महत्व बहुत अधिक है। अंग्रेजी में इसे Anaptyxs कहते हैं। इसका संबंध भी संयुक्त व्यंजन के सरलीकरण के साथ है। जब संयुक्त व्यंजन के उच्चारण में कठिनाई अनुभव की जा रही हो और उन दो व्यंजनों के मध्य एक स्वर का आगम कर उसे सरल बना दिया जाये तो उसे मध्यस्वरागम कहते हैं। इसका दूसरा नाम स्वरभक्ति भी है, जैसे भक्त=भगत। इसमें क्त के क् और त् के मध्य अ का आगम कर संयुक्त व्यंजन की स्वर की सहायता से भक्ति अर्थात् विभाजन कर दिया गया

है और कठिन उच्चारण को सरल बना दिया गया है। कुछ और उदाहरण हैं- स्कूल सकूल, रवीन्द्र रवीन्दर, स्टेशन सटेशन, स्नान सनान। संस्कृत में भी पृथ्वी शब्द के दो रुपांतर मिलते हैं- पृथ्वी और पृथिवी। यह स्वरभक्ति के कारण है। इसी प्रकार स्वर्ण का सुवर्ण बन जाना भी मध्यस्वरागम अथवा स्वरभक्ति का परिणाम है।

अन्त्यस्वरागम में उच्चारण सौकर्य (सुगमता) के लिए शब्द के अंत में स्वर का आगम होता है। मध्य कालीन ब्रज और अवधी में **आमाऊ, दे** देऊ इसके उदाहरण माने जा सकते हैं। दवा का दवाई भी इसी श्रेणी का ध्वनिपरिवर्तन है। वैसे भाषा में अन्त्यस्वरागम ऊपर लिखे दो स्वरागमों की अपेक्षा कम प्राप्त होता है।

जहां तक व्यंजनागम का प्रश्न है उसका प्रभाव स्वरागम की अपेक्षा बहुत कम दिखाई देता है। **आदि व्यंजनागम** का अर्थ है जहां उच्चारण का सुविधा के लिए शब्द के प्रारम्भ में व्यंजन का आगम कर दिया जाए। ओष्ठ-होंठ, उल्लास- हुलास, आदि शब्दों को इसी परिवर्तन का उदाहरण माना जाता है।

जिस प्रकार मध्यस्वरागम के उदाहरण पर्याप्त संख्या में मिल जाते हैं वैसे ही **मध्यव्यंजनागम** के भी पर्याप्त उदाहरण मिल जाते हैं। यहां शब्द के मध्य में व्यंजन की सहायता से ध्वनि का उच्चारण बदल दिया जाता है। जैसे - सूनर- सुन्दर, वानर-बंदर, पण- प्रण। पंजाबी में संबंधी को सरबंधी और आराम को अरमान कहना इसी प्रवृत्ति का परिचायक है।

जहां तक **अन्त्यव्यंजनागम** का संबंध है संस्कृत के मध्यकालीन और अर्वाचीन भाषाई विकामक्रम में इसके अनेक उदाहरण मिल जाते हैं। जैसे भ्रू- भौंह, कल-काल्ह, में शब्द के अंत में व्यंजन की सहायता से ध्वनि परिवर्तन कर दिया गया है।

2. लोप– आगम के समान ही दूसरी महत्वपूर्ण ध्वनिप्रवृत्ति का नाम लोप है। इसकी स्थिति आगम से बिल्कुल विपरीत है। जहां आगम में स्वर अथवा व्यंजन के आगम की सहायता से उच्चारण सौकर्य प्राप्त किया जात है वहां कुछ उदाहरणों में वही सुविधा लोप की सहायता से प्राप्त की जाती है। अंग्रेजी में इसे Elision कहते हैं।

आगम के समान लोप नामक ध्वनि प्रवृत्ति के भी कई पक्ष हैं। लोप स्वर का भी होता है और व्यंजन का भी होता है। लोप शब्द के आदि में होता है, मध्य में भी होता है और अंत में भी होता है। इस प्रकार आगम के समान लोप के भी छह प्रकार हैं।

आदिस्वरलोप को अंग्रेजी में Apheresis कहते हैं। इसमें शब्द के प्रारम्भिक स्वर का लोप उच्चारण को सरल बना दो है। जैसे- अनाज-नाज, अगर-गर, अहाता-हाता, अभ्यन्तर-भीतर, अफसाना-फसाना। यह प्रवृत्ति विश्व की लगभग सभी भाषाओं में मिल जती हैं।

मध्यस्वरलोप को अंग्रेजी में Syncope कहते हैं। इसमें मुखसुख अथवा शीघ्रतापूर्वक उच्चारण की प्रवृत्त के परिणामस्वरूप शब्द के मध्य में किसी स्वर का लोप कर कठिनता दूर कर ली जाती है। यह प्रवृत्ति सार्वदेशिक और सार्वकलिक है। आजकल कृपया का उच्चारण और लेखन प्राय: कृप्या कर दिया गया है जो मध्यस्वरलोप का ही परिणाम है। इसी प्रकर तिलक- तिल्क, रोहतक-रोहत्क, कपड़ा-कप्ड़ा, हरदम-हर्दम इसी प्रवृत्ति का परिणाम है।

अन्त्य स्वरलोप भाषा की इतनी अधिक सहज प्रवृत्ति है कि भारतीय आर्यभाषाओं के विकास में इसव शतश: उदाहरण मिल जाते हैं। मुखसुख की विवशता के कारण अनेक शब्दों का उच्चारण हम इस प्रकार करने लग जाते हैं कि हमें ज्ञात ही नहीं होता कि हम उसके अंतिम स्वर का लोप कर देते हैं। जैसे आजकल मम का उच्चारण उत्तर भारत में प्राय: सर्वत्र मम् हो रहा है और राम का उच्चारण राम् हो रहा है। इन दोनों में अंतिम अ का लोप हो चुका है पर अभी तक भी हम अपने व्याकरण ग्रंथों में इस परिवर्तन को नियमित आकार नहीं दे पाए हैं। यहां तक कि संस्कृत के प्राय: सभी स्वरान्त शब्द मध्यकालीन पालि, प्राकृत और अपभ्रंश में आ कर व्यंजनांत हो गए हैं। हमारे बोलने में भी भोर- भोर् तिल तिल्, आम-आम् शब्दों की बहुतायत हो चली है।

इसी प्रकार व्यंजनलोप भी होता है। सबसे पहले **आदिव्यंजनलोप** में सुविधा के लिए शब्द के प्रारम्भिक व्यंज का उच्चारण छोड़ दिया जाता है। अंग्रेजी में ऐसे शब्द बहुत हैं। Knife नाइफ, Knight नाइट, Psychology साइकोलोजी जैसे शब्दों में प्रारम्भिक व्यंजन का उच्चारण अब लुप्त हो चुका है। भारतीय भाषाओं में श्मशान-मसान, स्कन्ध-कन्धा, स्थाली- थाली जैसे शब्द इसी प्रवृत्ति का परिणाम हैं।

मध्यव्यंजनलोप में भी अंग्रेजी के अनेक उदाहरण उद्धत किए जा सकते हैं जहां बीच के किसी व्यंजन का उच्चारण प्राय: छोड़ दिया जाता है। कॉफ (calf), टॉक (talk), वाक् (walk) एवं आफन (often) जैसे उच्चारण इसी प्रवृत्त का प्रतीक है। भारतीय भाषाओं में भी ऐसे शब्द कम नहीं है। जैसे संबंधी- समधी, सप्त- सात, गर्भिणी- गाभिन, इत्यादि।

अन्त्यव्यंजनलोप के उदाहरण भी अंग्रेजी में ही बहुत मिलते हैं। इन लुप्त उच्चारणों को अंग्रेजी में प्राय: साइलन्ट कह दिया जाता है। जैसे Father, Mother, Water आदि में र् का उच्चारण भला कहां होता है? अंग्रेजी में शब्द कमांड का हिंदी कमान (हाई कमान) बन जाना अन्त्यव्यंजनलोप का उदाहरण है।

लोप के अंतर्गत **समाक्षरलोप** नाम से एक महत्त्वपूर्ण प्रवृत्ति प्राप्त होती है जिसे अंग्रेजी में Haplology कहते हैं। इसके अनुसार जहां एक ही प्रकार के दो व्यंजन एक साथ प्रयुक्त हो रहे हों, फिर चाहे उनके बीच स्वर का व्यवधान ही क्यों न हो तो उसमें से एक व्यंजन का लोप कर दिया जाता है। इसी को समाक्षरलोप कहते हैं। इसका एकमात्र कारण उच्चारण-सौकर्य पैदा करना है। नाक कटा का नकटा, खरीददार का खरीदार इसी महत्त्वपूर्ण प्रवृत्ति का परिणाम माने जा सकते हैं। पाणिनि ने अपने ग्रंथ अष्टाध्यायी में 'हलो यमां यमि लोप:' सूत्र में लगभग इसी प्रवृत्ति के लिये नियम बनाया है। इस प्रवृत्ति के अनेक उदाहरण मिल जाते हैं।

3. विपर्यय– इसका अर्थ है विपरीत कर देना अर्थात् उलट देना, आगे पीछे कर देना। अंग्रेजी में इसे Metathesis कहते हैं। कई बार हम देखते हैं कि बोलने वाला एक ही शब्द में ध्वनियों का लोप करने के बजाए उन्हें आगे पीछे कर देता है। लखनऊ के स्थान पर नखलऊ और वाराणसी के स्थान पर बनारस इसी के कारण बने हैं। प्राय: यह ध्वनिपरिवर्तन अज्ञानवश होता है। परन्तु कई बार शीघ्रता से बोलने के परिणामस्वरूप भी वर्णविपर्यय हो जाता है। यास्क ने अपने निरुक्त में इस प्रवृत्ति का विशेष रूप से उल्लेख किया है और हिंस-सिंह को इसके उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है। इसके अनेक उदाहरण मिल जाते हैं। जैसे–

मतलब-मतबल, डेस्क-डेक्स
अमरूद-अरमूद, कीचड़-चीकड़
पहुंचना- चहुंपना, चाकू- काचू इत्यादि।

4. अनुनासिकीकरण– इसे अंग्रेजी में Nasalisation कहते हैं। इस ध्वनिप्रवृत्ति का संबंध स्वरों के साथ है क्योंकि केवल स्वर ही अनुनासिक हो सकते हैं व्यंजन नहीं। इस प्रवृत्ति का प्रभाव वहीं देखा जाता है जहां किसी शब्द के परिवर्तन में अनुनासिकता पैदा हो जाए। जैसे सर्प का सांप हो जाना इसी अनुनासिकीकरण का परिणाम है। ऐसे अनेक अन्य उदाहरण भी हैं। जैसे- वक्र-बांका, उष्ट्र-ऊंट, कमल-कंवल, सत्य-सांच, यूक-जूं, कूप-कुआं, अश्रु-आँसू, भ्रू-भौंह, वेत्र-बेंत इत्यादि।

भारतीय भाषाओं में अनुनासिकीकरण के अनेक उदाहरण मिल जाते हैं। भाषा वैज्ञानिकों ने इसके लिए अनेक कारण गिनाए हैं। पाणिनि की अष्टाध्यायी का अध्ययन करते समय हमें यह स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि पाणिनि स्वरों को मूलत: सानुनासिक मानकर ही चल रहे हैं जो इस बात का प्रतीक है कि प्राचीन काल में भारतीयों में अनुनासिकीकरण की प्रवृत्ति स्वाभाविक रूप से ही थी। यहां तक मान लिया गया है कि आधुनिक उच्चारणविधि में जिन शब्दों में स्वर अनुनासिक नहीं हैं किंतु वहां पाणिनि का वह नियम ठीक प्रकार से लागू हो रहा है जो विशुद्ध रूप से सानुनासिक स्वरों के लिए है तो वहां यह मान लिया जाता है कि बेशक आज उस स्वरध्वनि का उच्चारण अनुनासिक के बिना हो रहा हो, पर पाणिनि के समय उसका उच्चारण सानुनासिक ही था। पाणिनीय व्याकरण- सम्प्रदाय की एक परिभाषा "प्रतिज्ञानुनासिक्या पाणिनीया:" इसी व्याख्या की ओर संकेत करती है। इससे स्पष्ट है कि प्राचीन भारतीयों में अनुनासिक उच्चारण की प्रवृत्ति बहुत अधिक थी।

किंतु जो शब्द पहले अनुनासिक स्वर वाले नहीं थे उनका अनुनासिकीकरण हो जाने के पीछे क्या कारण रहे होंगे? इस प्रश्न का उत्तर कई प्रकार से दिया गया है। प्राय: भाषावैज्ञानिक इसके पीछे कोई निश्चित कारण खोज पाने में असफल रहे हैं। कुछ विद्वानों ने इसे द्रविड़ प्रभाव माना है किंतु इस मान्यता के पीछे कोई ठोस आधार प्रतीत नहीं होता। भाषा वैज्ञानिक ब्लौख, टर्नर और चटर्जी ने इसे मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषा की विशेष प्रवृत्ति माना है तो ग्रियर्सन ने इसे आधुनिक भारतीयों भाषाओं की विशेष प्रवृत्ति स्वीकार किया है।

5. समीकरण– समीकरण को अंग्रेजी में Assimilation कहा जाता है। इसका संबंध संयुक्त व्यंजनों के साथ है। प्राय: मनुष्यों की प्रवृत्ति संयुक्त व्यंजनों के कठिन उच्चारण को किसी न किसी प्रकार सरल बनाने की होती है जैसा कि ऊपर देखा गया है कि लोप और आगम की प्रवृत्तियों का संबंध प्राय: संयुक्त व्यंजनों के साथ है। यही स्थिति समीकरण की भी है। समीकरण का अर्थ है सम अर्थात् समान कर देना यदि किसी शब्द में किसी संयुक्त व्यंजन का प्रयोग किया गया हो और उस संयोग में दोनों अक्षर एक से न होकर अलग-अलग हों तो उच्चारणकर्ता को उससे वास्तव में कठिनाई आती है। इस कठिनाई को दूर

करने के लिए कभी वह वर्ण का लोप करके और कभी किसी वर्ण का आगम करके उच्चारण को अधिक सुविधाजनक बना लेता है। इसी प्रक्रिया में वह कई बार उन दो पृथक्-पृथक् आकार वाले संयुक्त व्यंजनों को भी एक आकार वाला संयुक्त व्यंजन बना देता है। पृथक आकार वाले संयुक्त व्यंजनों को सम आकार वाला संयुक्त व्यंजन बना देना ही समीकरण कहलाता है। संस्कृत के मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषा के विकास काल में इसके अनेक उदाहरण मिलते हैं। जैसे पद्य-पद्द, चक्र-चक्क, पुत्र-पुत्त, लग्न-लग्ग, मुक्त-मुक्क, व्याध्-बाध्ध, तक्र-तक्क, वक्र-बक्क, इत्यादि।

6. **विषमीकरण**– इसे अंग्रेजी में Dissimilation कहते हैं। यह समीकरण से बिल्कुल विपरीत कोटि की प्रवृत्ति है। जहां समीकरण में पृथक् आकार वाले दो व्यंजन का आकार समान कर दिया जाता है, वहां विषमीकरण में दो समान आकार वाले व्यंजनों का आकार पृथक् कर दिया जाता है। जैसे काक- कागा, कंकण-कंगन, लांगूल-लंगूर, दरिद्र-दरिद्दर, इत्यादि।

इस संबंध में तीन बातें ध्यान में रखने योग्य हैं। एक यह कि जहां समीकरण का संबंध अनिवार्य रूप से संयुक्त व्यंजनों के साथ होता है वहां विषमीकरण के लिए ऐसी कोई अनिवार्यता नहीं है। इसी के साथ दूसरी यह विशेषता जुड़ी हुई है कि विषमीकरण में एक दूसरे से दूर पड़े हुए व्यंजनों का भी ग्रहण हो जाता है जबकि समीकरण में ऐसा संभव नहीं है। तीसरी और सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि जहां भारतीय आर्यभाषओं में समीकरण के अनेकानेक उदाहरण मिल जाते हैं वहां विषमीकरण के विशेष उदाहरण नहीं मिलते। और जो उदाहरण मिलते भी हैं उन्हें घोषीकरण, अल्पप्राणीकरण जैसे दूसरी ध्वनि प्रवृत्ति में रखना ही अधिक वैज्ञानिक प्रतीत होता है। इन सब तथ्यों को दृष्टिगत रखते हुए कुछ भाषावैज्ञानिक विषमीकरण को ध्वनिप्रवृत्ति मानने को ही तैयार नहीं है।

7. **घोषीकरण**– इसे अंग्रेजी में Vocalisation कहते हैं- संस्कृत में प्रत्येक वर्ग की प्रथम दो ध्वनियों क-ख, च-छ, ट-ठ, त-थ, और प-फ को अघोष और तीसरी और चौथी ध्वनियों को घोष कहा जाता है। जब अघोष ध्वनियों का परिवर्तन घोष ध्वनियों में हो जाए तो उसे घोषीकरण कहते हैं। जैसे- कंकण-कंगन, काक-काग, शाक-साग, मकर-मगर इत्यादि। इसके उदाहरण पर्याप्त मिल जाते हैं।

8. **अघोषीकरण**– इसे अंग्रेजी में Devocalisation कहते हैं। यह घोषीकरण से एकदम विपरीत है। इस ध्वनिप्रवृत्ति में घोष अर्थात् वर्ग की तीसरी और चौथी ध्वनियों का परिवर्तन वर्ग की अघोष अर्थात् वर्ग की पहली दो ध्वनियों में हो जाता है। जैसे गगन-गकन, मेघ-मेख, नगर-नकर। इसके उदाहरण अपेक्षाकृत कम होते हैं। मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषाओं में ही कहीं-कहीं इसके उदाहरण मिलते हैं।

9. **अल्पप्राणीकरण**– इसे अंग्रेजी में Deaspiration कहते हैं। संस्कृत में वर्ग की पहली, तीसरी और पांचवी ध्वनियाँ अल्पप्राण और दूसरी, एवं चौथी ध्वनियां महाप्राण कहलाती हैं। जहां महाप्राण ध्वनियों का परिवर्तन अल्पप्राण ध्वनियों में हो जाए उसे अल्पप्राणीकरण कहते हैं। जैसे सिंधु-हिंदु, भूख-भूक, श्रेष्ठ-श्रेष्ट इत्यादि।

10. **महाप्राणीकरण**– इसे अंग्रेजी में Aspiration कहते हैं। यह अल्पप्राणीकरण से एकदम विपरीत है। इसमें अल्पप्राण ध्वनियों का परिवर्तन महाप्राण ध्वनियों में हो जाता है। इसके उदाहरण पर्याप्त संख्या में मिल जाते हैं। जैसे- परशु-फरसा, सर्व-सभ पत्थर=फत्तर, शुष्क- सूखा, वेष-भेष, धृष्ट-ढीठ, गृह-घर, हस्त-हाथ इत्यादि।

11. **अपश्रुति** एक महत्त्वपूर्ण ध्वनिप्रवृत्ति है। क्या अपश्रुति को ध्वनिपरिवर्तन की एक दिशा माना जा सकता है? भाषा विज्ञान में ध्वनि का अध्ययन जिस प्रकार से होता है उसे देखते हुए हम अपश्रुति को न तो ध्वनि परिवर्तन के कारणों में परिभाषित कर सकते हैं और ना ही भाषा वैज्ञानिकों ने इसे बाकायदा कोई निश्चित ध्वनिनियम ही माना है। इसलिए इसकी गणना एक ध्वनिप्रवृत्ति के रूप में की जा सकती है। इसे ध्वनिप्रवृत्ति मानना इसलिए भी ठीक है क्योंकि इसमें सामान्य रूप से ध्वनियों के परिवर्तन के प्रकार का ही प्रमुख रूप से विवेचन होता है।

किंतु इस संबंध में एक स्मरण रखने योग्य तथ्य यह है कि अपश्रुति को सामान्य ध्वनिप्रवृत्तियों से विशिष्ट ही मानना चाहिए। इसका कारण यह है कि जहां ध्वनिपरिवर्तन की अन्य दिशाओं का अध्ययन भाषाविज्ञान में सामान्य रूप से हुआ है वहां अपश्रुति के अध्ययन का अपना एक इतिहास है। जैसा कि आगे देखा जायेगा अपश्रुति का संस्कृत भाषा के संदर्भ में जिस प्रकार से अध्ययन किया जाता है उसके आधार पर तो इस ध्वनिप्रवृति का इतिहास स्वयं संस्कृत व्याकरण में खोजा जा सकता है जिसकी प्राचीनता एक सहस्त्र ईसा पूर्व से भी पहले की मानी जाती है पर अपश्रुति को इतना प्राचीन मानना किसी भी दृष्टि से न्यायसंगत नहीं होगा। अपश्रुति एक आधुनिक विषय है इसलिए उसका अध्ययन भी वैसा ही होना चाहिए।

अंग्रेजी में जिसे 'वॉवेल ग्रेडेशन' कहते हैं और जर्मन भाषा में जिसे 'अब्लॉत' कहा गया है उसे आधुनिक भारतीय भाषावैज्ञानिक शब्दावली में अपश्रुति, अवश्रुति, अपिश्रुति अभिश्रुति आदि कहा गया है। कुछ विद्वानों ने इसे स्वर-क्रम, स्वर-श्रेणीकरण और अक्षरावस्थान भी कहा है। मराठी में इसे 'सम्प्रसारण' कहा गया है पर जैसा कि हम आगे चलकर देखेंगे यह अपश्रुति का एक अंशमात्र है। इन सभी नामों में से अब 'अपश्रुति' नाम ही सर्वाधिक प्रचलित है।

इस संबंध में पहला प्रश्न यह उठता है कि अपश्रुति का अर्थ क्या है? वस्तुतः हम इसे ध्वनिपरिवर्तन के विशिष्ट संदर्भ में ही समझ सकते हैं। ध्वनि परिवर्तन स्वरों और व्यंजनों- दोनों से अपना संबंध रखता है। जहां आदि-निहित, स्वरभक्ति आदि का संबंध स्वरों के साथ था वहां घोषीकरण, महाप्राणीकरण आदि का संबंध व्यंजनों के साथ था जबकि लोप आगम आदि का संबंध दोनों के साथ था। अपश्रुति का संबंध केवल स्वरों के साथ है।

अपश्रुति में स्वरों के परिवर्तन का अध्ययन भी एक विशिष्ट प्रकार से होता है। इसमें स्वरों के कुछ क्रम बना दिए जाते हैं और किसी स्वर का परिवर्तन उसके कौन से क्रम में हुआ है इसी का अध्ययन यहां होता है इसीलिए जहां अंग्रेजी में इसे 'वॉवेल ग्रेडेशन' अर्थात् स्वरों के क्रम (ग्रेड) का अध्ययन कहते हैं, वहां हिंदी में प्रारम्भ में इसका नाम 'स्वरक्रम' अथवा 'स्वरश्रेणीकरण' था तो उचित ही था। इसी आधार पर 'अक्षरावस्थान' इस नामकरण का औचित्य भी सिद्ध किया जा सकता है।

स्वरों के क्रम का अध्ययन करने के लिए स्थूल रूप से स्वरों की दो प्रमुख शृंखलाएं मान ली गई हैं। वे इस प्रकार हैं:-

1. इ शृंखला और 2. उ–शृंखला

ये दोनों शृंखलाएं महत्त्वपूर्ण हैं। यदि समस्त स्वरों का वैज्ञानिक वर्गीकरण किया जाए तो उनमें से तीन मूल स्वर ही हमारे सामने आते हैं। वे हैं- अ, इ, उ। ये तीनों स्वर ही दीर्घ, गुण और वृद्धि की सहायता से विभिन्न रूपों में परिवर्तित और विकसित हो जाते हैं। जब आगे चलकर भारोपीय भाषा और संस्कृत भाषा में अपश्रुति का अध्ययन किया जायेगा तो वह अध्ययन इन तीनों मूलस्वरों के आधार पर बनी शृंखलाओं पर आधारित होगा। परन्तु सामान्य रूप से अपश्रुति का अध्ययन करने के लिए अभी इ और उ इन दो स्वरों पर आधारित शृंखलाओं को ही आधार बनाया जा रहा है।

इन शृंखलाओं को समझने के लिए हमें एक और विशिष्ट प्रवृत्ति पर भी गम्भीरतापूर्वक ध्यान देना होगा। संस्कृत व्याकरण में इन स्वरों का विकास तीन रूपों में होता है- ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत। भाषाविज्ञान इनमें से ह्रस्व और दीर्घ स्वरों का ग्रहण करता है, वह प्लुत पर इस दृष्टि से विचार नहीं करता। इ और अ की संधि से ए तथा अ और उ की संधि से ओ बनते हैं इन्हें स्वरयुग्म या ध्वनियुग्म कहते हैं। इनका विकास दो रूपों में होता है- गुण और वृद्धि। अपश्रुति का अध्ययन करते समय इन दोनों का ग्रहण कर लिया जाता है। आधुनिक भाषाविज्ञान ने दुर्बल स्वर की भी कल्पना की है। जिसका उच्चारण ह्रस्व रूपों से एक मात्रा कम होता है। इस प्रकार जब अपश्रुति का अध्ययन किया जाता है तो उसमें इन दोनों शृंखलाओं में स्वरों के पांच क्रम अथवा अवस्थाएं मान लेते हैं जो इस प्रकार हैं- दुर्बलस्वर, ह्रस्वस्वर, दीर्घस्वर, गुणस्वर और वृद्धिस्वर। इन के आधार पर सामान्य रूप से अपश्रुति में दो स्वर शृंखलाओं का स्वरूप इस प्रकार स्वीकार किया जाता है–

	इ-शृंखला	**उ शृंखला**
दुर्बल स्वर	इ̍	उ̍
ह्रस्वस्वर	इ	उ
दीर्घस्वर	ई	ऊ
गुणस्वर	ए	ओ
वृद्धिस्वर	ऐ	औ

इन्हें साधारण रूप से इस प्रकार लिखा जाता है-

1. इ-शृंखला-- इ̍- इ, ई, ए, ऐ।
2. उ-शृंखला-- उ̍- उ, ऊ, ओ, औ।

यद्यपि सामान्य रूप से अपश्रुति में हम इन्हें इ -शृंखला और उ- शृंखला कहते हैं, तथापि इनके दो एक नाम और भी हैं। अंग्रेजी के भाषा-वैज्ञानिक इन्हें ई-शृंखला और ओ शृंखला कहना चाहते हैं जिसका आधार अंग्रेजी वर्णमाला के दो स्वर 'ई' (E) और "ओ' (O) हैं। कुछ भाषावैज्ञानिक अपनी सुविधा के लिए इन्हें ए- शृंखला और बी शृंखला कह देते हैं जबकि

इसे सुविधा की दृष्टि से कुछ अन्य विद्वान् क्रमशः फ्रंट- शृंखला और बैक शृंखला भी कह देते हैं। पर इससे कोई विशेष अंतर नहीं पड़ता।

इन दोनों शृंखलाओं के आधार पर अपश्रुति में होने वाले दो प्रकार के परिवर्तन होते हैं जिन्हें भाषाविज्ञान में मात्रिक परिवर्तन और गुणीय परिवर्तन कहा जाता है। जब किसी स्वर का परिवर्तन अपनी ही शृंखला के किसी दूसरे स्वर में होता है तो हम उसे मात्रिक परिवर्तन कहते हैं क्योंकि उसमें स्वर की मात्रा में ही परिवर्तन आता है उसका मूल स्वभाव वही का वही रहता है। दूसरी ओर जब एक शृंखला के स्वर का परिवर्तन दूसरी शृंखला के स्वर में होता है तो हम उसे गुणीय परिवर्तन कहते हैं क्योंकि इस परिवर्तन में केवल स्वर का आकार ही नहीं बदलता बल्कि उसका मूल स्वभाव भी बदल जाता है। उदाहरणतया, यदि उ का परिवर्तन ऊ, ओ अथवा औ में होता है तो हम उसे मात्रिक परिवर्तन कहेंगे क्योंकि यह परिवर्तन उ शृंखला में ही हुआ है। परन्तु यदि उ का परिवर्तन इ, ए अथवा ऐ में होता है तो हम उसे गुणीय परिवर्तन कहेंगे क्योंकि इस परिवर्तन में स्वर का मूल स्वभाव ही बदल गया है। दूसरे शब्दों में, यदि परिवर्तन किसी शृंखला के अपने ही स्वर में होता है तो उसे मात्रिक परिवर्तन कहा जाता है, परन्तु यदि एक शृंखला के स्वर का परिवर्तन दूसरी शृंखला के स्वर में होता है तो उसे गुणीय परिवर्तन कहा जाता है। उदाहरणतया 'लड़की' शब्द का परिवर्तन अगर 'लड़कियों' में होता है तो उसे मात्रिक परिवर्तन कहेंगे क्योंकि यहां ई का परिवर्तन इ में हुआ है अर्थात् स्वर का परिवर्तन अपनी ही शृंखला के दूसरे स्वर में हुआ है पर यदि यह परिवर्तन 'लड़कों' में हो जाए तो इसे गुणीय परिवर्तन कहा जाएगा क्योंकि यहां एक शृंखला के स्वर ई का परिवर्तन ओ में हो गया है जो कि दूसरी शृंखला का है।

भाषाओं में मात्रिक परिवर्तन अधिक होता है या गुणीय? इस प्रश्न का उत्तर सभी भाषाओं के लिए समान नहीं हो सकता। यद्यपि भाषाओं में समान रूप से मात्रिक परिवर्तन की सम्भावनाएं ही अधिक होती है, पर गुणीय परिवर्तन का अभाव भी नहीं होता। कुछ भाषाओं में गुणीय परिवर्तन भी बहुत अधिक होता है।

इस विशिष्ट पृष्ठभूमि के आधार पर भारोपीय अपश्रुति और संस्कृत अपश्रुति का पहले अलग-अलग और फिर तुलनात्मक अध्ययन किया जा सकता है। ऊपर अपश्रुति का सामान्य रूप से ही विवेचन किया गया है। इसकी तुलना में भारोपीय अपश्रुति की दो निजी विशेषताओं का उल्लेख किया जा सकता है।

भारोपीय अपश्रुति की पहली विशेषता यह है कि जहां सामान्य अपश्रुति में स्वरों का विभाजन दो शृंखलाओं में होता है वहां भारोपीय अपश्रुति में यह विभाजन तीन शृंखलाओं में होता है अर्थात् यहां एक स्वर शृंखला और जोड़ दी जाती है और उसका उपयोग भी मात्रिक और गुणीय अपश्रुति के रूप में होता है। इस प्रकार भारोपीय अपश्रुति में शृंखलाओं का क्रम और स्वरूप इस प्रकार होता है–

1. अ- शृंखला= अ॑. अ. आ।
2. इ शृंखला= इ॑. इ. ई. ए. ऐ।
3. उ शृंखला= उ॑. उ. ऊ, ओ, औ।

भारोपीय अपश्रुति की दूसरी विशेषता यह है कि इसमें दुर्बल स्वर को आधार बनाकर आगे परिवर्तन को क्रमशः हुआ स्वीकार किया जाता है। अर्थात् दुर्बल अ॑, इ॑, उ॑, को आधारभूत स्वर माना गया है और ह्रस्व, दीर्घ, गुण और वृद्धि को क्रमशः विकसित माना गया है।

संस्कृत अपश्रुति को समझने के लिए दो आधारभूत बातों को समझ लेना बहुत जरूरी है। पहली बात यह है कि संस्कृत अपश्रुति में स्वर-शृंखलाओं का निर्धारण अलग प्रकार का है। इसे समझने के लिए इन शृंखलाओं पर पहले ध्यान दिया जाए। संस्कृत अपश्रुति में दो स्वर-शृंखलाएं निम्नलिखित है–

1. अ– शृंखला- अ, अय्, अव्, अर्, अल्, अन्, अम्।
2. आ– शृंखला– आ, आय्, आव्।

स्पष्ट है कि इन श्रृंखलाओं का स्वरूप सामान्य अपश्रुति और भारोपीय अपश्रुति से एकदम पृथक् है। प्रश्न है कि ऐसा क्यों है? इस प्रश्न का उत्तर पाने के लिए हमें भारोपीय मूलभाषा के वर्ण विवेचन की ओर जाना होगा। मूल भारोपीय पितृभाषा में छः अन्तःस्थ माने गये हैं- य्, व्, र्, ल् (अ-)-न्, (अ-) म्। चूंकि अन्तःस्थ स्वरों और व्यंजनों के मध्य में अवस्थित माने गये हैं इसलिए संस्कृत अपश्रुति की स्वर श्रृंखलाओं का अध्ययन करते समय उनकी सहायता ली गई है। संस्कृत धातुओं

की संरचना में स्वरों अन्तःस्थों के आधार पर जितनी न्यूनतम उच्चारण इकाइयां संभव हैं उन्हें संस्कृत अपश्रुति की स्वर शृंखलाओं का निर्धारण करते समय यहां स्थान दिया गया है।

संस्कृत अपश्रुति की दूसरी आधारभूत बात यह है कि इसमें स्वर परिवर्तन का आकलन सम्प्रसारण, गुण और वृद्धि के आधार पर होता है। संस्कृत भाषा में चार अन्तःस्थ हैं-य्, व्, र्, ल्, और विशेष परिस्थितियों में इनके चार स्वरों में बदलने की संभावनाएं हमेशा रहती हैं। इनके अंतर्गत य्, व्, र्, ल्, का क्रमशः परिवर्तन इ, उ, ऋ, लृ में होता है। इसे सम्प्रसारण कहते हैं। इसी प्रकार संस्कृत व्याकरण में अ, ए, और औ को गुणस्वर कहा जाता है तो वृद्धि स्वरों के अंतर्गत आ, ऐ, औ की गणना होती है। भाषावैज्ञानिकों का निष्कर्ष है कि संस्कृत अपश्रुति में सम्प्रसारण को मूल मानकर उनका परिवर्तन दो दिशाओं में माना जाता है- गुणस्वरों में और वृद्धि स्वरों में। पर परपरिवर्तन दिशा को ठीक प्रकार से समझने के लिए निम्नलिखित नक्शा ध्यान में रखना आवश्यक है–

गुण स्वर सम्प्रसारण स्वर वृद्धिस्वर

(अ, ए, ओ) (इ, उ, ऋ, लृ) (आ, ऐ, औ)

अर्थात् मूल सम्प्रसारण स्वरों का परिवर्तन एक ओर गुण स्वरों में होता है तो दूसरी ओर वृद्धि स्वरों में होता है।

अब संस्कृत अपश्रुति के इन मूलभूत तत्त्वों के आधार पर इसका सोदाहरण अध्ययन किया जायेगा। ऊपर लिखी दो स्वर-शृंखलाओं -अ शृंखला और आ शृंखला में कुल दस मूल स्वर मानकर संस्कृत की धातुओं में से उनके उदाहरण खोजे जायेंगे। फिर उनका सम्प्रसारण, गुण और वृद्धि की सहायता से ऊपर लिखे क्रम के अनुसार उदाहरणों को जांचते हुए स्वर-परिवर्तन का अध्ययन करेंगे। जैसे- मूल भारोपीय पितृभाषा के जिन दो अन्तःस्थों (अ-) न् और (अ-) म् को हमने इन स्वर-शृंखलाओं में सम्मिलित किया है, उनके सम्प्रसारण रूपों की कोई उपलब्धि संस्कृत में नहीं होती इसलिए उनके सम्प्रसारण रूप हमें नहीं मिलते। दूसरी बात यह है कि जहां संस्कृत में ल्- अन्तःस्थ की प्राप्ति पर्याप्त मात्रा में होती है वहां उसके स्वर रूपांतरण अर्थात् लृ-सम्प्रसारण की प्राप्ति प्रायः नहीं होती। अतः इसके उदाहरणों का प्रायः अभाव ही रहेगा। इसके अतिरिक्त अन्य उदाहरण अल्पाधिक रूप में मिल ही जाते हैं।

अब दस मूल धातुस्वरों के आधार पर गुण और वृद्धि स्वरों की सहायता से संस्कृत अपश्रुति का सोदाहरण विश्लेषण किया जा रहा है–

धातु	**गुणस्वर (अ, ए, ओ)**	**सम्प्रसारण स्वर (इ, उ, ऋ, लृ)**	**वृद्धि स्वर (आ, ऐ, औ)**
अ= पद्	पठति, पेठतु	पिपठिष्यति	पपाठ
अय्=नय्	नयति, नेता	निनाय, नीयते	अनैषीत्
अव्=भव्	भवति	भूतः, अभूत्।	भावना
अर्=हर्	हरति, अहरत्	हृतः	अहार्षीत्
अल्=कल्प्	कल्पते	कलृप्त	काल्पनिक
अन्=मन्	मन्यते	–	मानः
अम्=नम्	नमति, नेमतुः	–	ननाम
आ=गा	गेयम्	–	गानः
आय्=ग्लाय्	गलेयात्	–	ग्लायति, ग्लानि
आव्=धाव्	–	–	धावति

इस आधार पर स्पष्ट है कि कुछ उदाहरणें के निश्चित अभाव के बावजूद कुछ अन्य स्वरों के भी अपश्रुति संबंधी उदाहरण नहीं मिलते या कम मिलते हैं।

भारोपीय-अपश्रुति और संस्कृत-अपश्रुति की तुलना क आधार पर इन दोनों में दो अंतर स्पष्ट रूप से सामने आते हैं–

1. इन दोनों अपश्रुतियों में पहला स्वरशृंखलाओं की संख्या और आकार के विषय में है। जहां भारोपीय अपश्रुति में तीन स्वर शृंखलाएं हैं वहां संस्कृत अपश्रुति में दो श्रृंखलाएं है। जहां तक इन शृंखलाओं के आकार का प्रश्न है, उसमें भी अंतर है। भारोपीय अपश्रुति में अ शृंखला, इ- शृंखला, उ शृंखला, ये तीन स्वर शृंखलाएं मिलती हैं वहां संस्कृत अपश्रुति में अ शृंखला और आ शृंखला ये दो ही मिलती हैं।

2. इन दोनों में दूसरा प्रमुख अन्तर स्वरपरिवर्तन के विकासक्रम को लेकर भी है। जहां भारोपीय अपश्रुति में दुर्बल स्वर को मूलस्वर मानकर उसका क्रमिक विकास ह्रस्वस्वर, दीर्घस्वर, गुणस्वर और वृद्धिस्वर में होता है वहां संस्कृत अपश्रुति में सम्प्रसारण स्वर को मूलस्वर मानकर उसका परिवर्तन एक ओर गुणस्वर में और दूसरी ओर वृद्धिस्वर में होता है।

पाठ 7
ध्वनि-नियम

–डॉ. सूर्यकान्त बाली

1. ध्वनि-नियम की परिभाषा

पिछले दो पाठों में क्रमशः ध्वनिपरिवर्तन के कारणों और दिशाओं का विस्तृत विवेचन किया गया है। उसी प्रसंग में सादृश्य और अपश्रुति का विशेष विवेचन भी किया जा चुका है। कारणों और दिशाओं के इस विस्तृत विवेचन से स्पष्ट है कि किसी भी भाषा में ध्वनिपरिवर्तन एक बहुत ही सहज प्रक्रिया है। इस पृष्ठभूमि में एक प्रश्न उठता है कि क्या कोई ऐसा तरीका है जिसकी सहायता से यह सुनिश्चित किया जा सके कि किसी भी शब्द की ध्वनि का किन परिस्थितियों में कैसा परिवर्तन होगा?

इस प्रश्न का निहितार्थ विस्तार से समझने की आवश्यकता है। ध्वनिपरिवर्तन के कारणों का विवेचन करते हुए कुछ ऐसी परिस्थितियों का परिगणन किया गया था जिनके परिणामस्वरूप ध्वनि अपने उपलब्ध रूप को स्थिर नहीं रख पाती और उसमें धीरे-धीरे परिवर्तन आना प्रारम्भ हो जाता है। ध्वनिपरिवर्तन की दिशाओं के विवरण में देखा गया है कि जब अनेक प्रकार की ध्वनियों में एक विशेष प्रकार का परिवर्तन समान रूप से पाया जाता है तो उसे विशेष प्रकार की ध्वनिप्रवृत्ति कह दिया जाता है। उदाहरणतया सर्प–सांप, वक्र–बांका, कूप–कुआँ, अक्षि–आँख जैसे शब्दों में ध्वनिपरिवर्तन इस प्रकार का हुआ है कि इन सभी में स्वर का अनुनासिकीकरण कह देते हैं।

प्रश्न है कि जिस प्रकार कुछ परिस्थितियों का विवेचन करते हुए ध्वनिपरिवर्तन के कारणों का ज्ञान हो जाता है और कुछ परिवर्तनों का वर्गीकरण करते हुए हमें उसके आधार पर ध्वनिपरिवर्तन की दिशाओं अर्थात् ध्वनिप्रवृत्तियों का ज्ञान प्राप्त हो जाता है, उसी प्रकार क्या ऐसी परिस्थितियों की पूर्वकल्पना की जा सकती है कि पहले से ही यह बताया जा सके कि अमुक परिस्थितियों के उत्पन्न हो जाने पर अमुक ध्वनियाँ अमुक प्रकार का परिवर्तन ग्रहण कर लेंगी! अर्थात् क्या कुछ ऐसे ध्वनि नियमों की कल्पना की जा सकती है कि जिनके आधार पर कुछ विशेष प्रकार के सम्भाव्य ध्वनिपरिवर्तनों के बारे में पहले से ही भविष्यवाणी की जा सके। दूसरे शब्दों में, उदाहरणतया, क्या ऐसा कहा जा सकता है कि इन कारणों के परिणामस्वरूप इन शब्दों के स्वरों का अनुनासिकीकरण हो जाएगा।

इस विस्तृत प्रश्न का संक्षिप्त उत्तर भाषाविज्ञान की ओर से नकारात्मक है। भाषा विज्ञान अभी ऐसे ध्वनि नियमों की कल्पना नहीं कर पाया जिनके आधार पर भविष्य के ध्वनिपरिवर्तनों के बारे में बताया जा सके। परन्तु भाषा विज्ञान ऐसे नियमों का एक सीमा तक निर्धारण अवश्य कर सका है जिनके आधार पर भूतकाल में हुए कुछ ध्वनिपरिवर्तनों को अध्ययन का विषय बनाया जा सके।

इस पर प्रश्न उठता है कि यदि ध्वनि नियम किसी भाषा में हो चुके ध्वनिपरिवर्तनों के आधार पर नियमों का निर्धारण करता है जो उसे ध्वनि प्रवृत्ति से किस प्रकार पृथक् माना जाए? अनुनासिकीकरण, महाप्राणीकरण, घोषीकरण जैसी ध्वनिप्रवृत्तियों में भी तो किसी भाषा में हो चुके ध्वनिपरिवर्तनों का वर्गीकरण कर के फिर विशिष्ट प्रवृत्ति के आधार पर विशेष अध्ययन का विषय बनाया जाता है। क्या ध्वनिप्रवृत्ति ही ध्वनि नियम है? यदि हां, तो फिर ध्वनि नियमों का ध्वनि प्रवृत्तियों से पृथक् अध्ययन करने की क्या आवश्यकता है और यदि नहीं, तो फिर इन दोनों में क्या अन्तर है?

भाषाविज्ञान ध्वनि-नियम और ध्वनि-प्रवृत्ति में अन्तर मानता है इसलिए यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि इन दोनों में क्या अन्तर है। यद्यपि अनेक भाषा वैज्ञानिकों ने इसका उत्तर देने का प्रयास किया है तथापि कोई दो टूक उत्तर दे पाना सम्भव नहीं हो पाया है। कुछ विद्वानों ने इसका उत्तर देते हुए कहा कि दोनों में अन्तर परिवर्तन की कालपरिधि का है अर्थात् यदि कोई ध्वनिपरिवर्तन थोड़ी दूर चलने के बाद समाप्त हो जाता है तो उसे ध्वनि प्रवृत्ति कहा जायेगा। परन्तु यदि कोई परिवर्तन एक लम्बे अरसे तक चल कर भाषा का अभिन्न अंग बन जाता है तो उसे ध्वनि नियम कहा जायेगा।

पर यह अन्तर कोई बहुत वैज्ञानिक नहीं प्रतीत होता। हम फिर से अनुनासिकीकरण के आधार पर ही इसकी परीक्षा करने का प्रयास करते हैं। ऊपर अनुनासिकीकरण के कुछ उदाहरण दिए गए हैं जो संस्कृत में तो अनुनासिक रहित हैं पर हिन्दी में आते-आते सानुनासिक हो गए। यहाँ प्रश्न उठता है कि क्या इसे अनुनासिकीकरण की प्रवृत्ति माना जाये या नियम? भाषा विज्ञान इसे नियम नहीं प्रवृत्ति मानता है।

यदि इसे ध्वनि प्रवृत्ति मानें तो स्वभावतः यह प्रश्न उठता है कि यदि यह परिवर्तन अल्पकालिक है तो क्या आगे चलकर समाप्त हो जाएगा? यदि हां, तो यह किस आधार पर कहा जा सकता है कि यह परिवर्तन अल्पकालिक है और आगे चलकर समाप्त हो जायेगा। अगर यह निश्चित कर पाना कठिन है तो क्यों नहीं इसे ऊपर बताए गए अन्तर के आधार पर ध्वनि-नियम मान लिया जाये। पर चूंकि भाषा विज्ञान में इसे ध्वनि-नियम नहीं ध्वनि प्रवृत्ति ही माना गया है इसलिए यह स्पष्ट है कि ऊपर ध्वनि-नियम और ध्वनि-प्रवृत्ति में बताए गए अन्तर को वैज्ञानिक नहीं माना जा सकता।

इसलिए कुछ भाषा वैज्ञानिक दूसरे प्रकार का अन्तर मानते हैं। उनके अनुसार ध्वनि-नियम और ध्वनि-प्रवृत्ति में कालगत अन्तर नहीं है अपितु भाषागत सामान्य-विशेष का अन्तर है। ध्वनिपरिवर्तन तो प्रत्येक भाषा में होते हैं। परन्तु जो परिवर्तन किसी एक भाषा विशेष में हो या भाषा परिवार विशेष में हों और दूसरी भाषा या दूसरे परिवार की भाषाओं में उसे न पाया जा सके वह उस भाषा का ध्वनि नियम कहा जाएगा। इसके विपरीत जो परिवर्तन किसी विशेष भाषा या भाषा परिवार का न होकर सामान्य रूप से प्रत्येक भाषा पर लागू हो सकता हो उसे ध्वनि प्रवृत्ति कहेंगे। उदाहरणतया, अनुनासिकीकरण ध्वनि प्रवृत्ति है और यह प्रवृत्ति विश्व की किसी भी भाषा में पाई जा सकती है, पर ग्रिम-नियम ध्वनि प्रवृत्ति नहीं, ध्वनि नियम है क्योंकि इसका सम्बन्ध केवल इन्डोजर्मनिक भाषाओं के साथ है। इस आधार पर भाषा विज्ञान में ध्वनि नियम की परिभाषा इस प्रकार दी जा सकती है–"किसी भाषा विशेषों का कुछ विशिष्ट परिस्थितियों में परिवर्तन को बताने वाला नियम ध्वनि नियम कहलाता है।" ध्वनिनियम की इस परिभाषा के आधार पर कुछ विशिष्ट बातों की ओर संकेत किया जा सकता है :

1. ध्वनि-नियम यदि एक भाषा का है तो उसे दूसरी भाषा पर लागू नहीं कर सकते। संस्कृत के ध्वनि-नियम चीनी भाषा पर लागू नहीं किये जा सकते।

2. यदि ध्वनि-नियम का सम्बन्ध किसी भाषा की विशेष ध्वनियों से है तो उसे उस भाषा की सभी ध्वनियों पर लागू नहीं कर सकते।

3. ध्वनि नियम जिस तरह किसी एक विशेष भाषा की विशेष ध्वनि का होता है वैसे ही उसका प्रभाव भी एक विशेष कालखण्ड में ही होता है, उसे सार्वकालिक नहीं माना जा सकता।

4. काल के समान ध्वनि नियम कुछ परिस्थितियों में बंधे होते हैं।

ध्वनि नियम की भाषावैज्ञानिक परिभाषा और विश्लेषण के बाद कुछ अपवादों की ओर भी ध्यान दिया जाना आवश्यक है। जैसे :

1. सादृश्य के कारण होने वाले ध्वनिपरिवर्तनों पर ध्वनि नियम लागू नहीं होता।
2. अगर किसी भाषा का ध्वनि नियम उसकी किसी विशेष ध्वनि के लिए है और वैसी ही ध्वनि उस भाषा में प्रयुक्त किसी विदेशी भाषा के शब्द में भी प्राप्त होती है तो उस पर वह ध्वनि नियम प्रभावी नहीं होता।
3. इसी प्रकार भाषा के अपने ही उन शब्दों पर भी उस भाषा का ध्वनि नियम लागू नहीं होगा जो सांस्कृतिक पुनर्जागरण के कारण फिर से प्रयोग में आना शुरू हो गए हैं।

इन व्याख्याओं और अपवादों की सहायता से ऊपर लिखी ध्वनिनियम की परिभाषा और भी अधिक स्पष्ट हो जाती है। अब कुछ प्रख्यात ध्वनिनियमों का विस्तृत विवेचन किया जा रहा है।

2. ग्रिम नियम

इस तरह के ध्वनिनियमों में चार नियम ही अब तक विशेष रूप से सामने आये हैं– ग्रिमनियम, ग्रासमैननियम, वर्नरनियम और तालव्यनियम। वस्तुतः नियम दो ही हैं– ग्रिमनियम और तालव्यनियम। शेष दो नियम– ग्रासमैननियम और वर्नरनियम पहले वाले नियम अर्थात् ग्रिमनियम का ही विस्तार हैं।

तुलनात्मक भाषाविज्ञान में ग्रिमनियम का बहुत अधिक महत्त्व है। ऊपर ध्वनि नियम की जो परिभाषा दी गई है यह नियम उस कसौटी पर ठीक सही उतरता है। इस नियम के प्रस्तोता जैकबग्रिम नामक विद्वान् हैं जिस कारण इस का नाम भी ग्रिमनियम पड़ गया।

वैसे यह नियम बेशक ग्रिमनियम के नाम से विख्यात है, पर उन्हें इस नियम का प्रथम प्रस्तोता नहीं माना जा सकता। सबसे पहले इहरे नामक एक विद्वान ने इस नियम के उस रूप का प्रारम्भिक प्रस्ताव रखा जो बाद में इस नियम का आधार बना। उसके बाद डेनमार्क के प्रख्यात भाषावैज्ञानिक रास्क ने इस आधार को आगे बढ़ाया। किन्तु इन दोनों विद्वानों के नाम के साथ यह नियम जुड़ नहीं पाया क्योंकि वे इसे कोई निश्चित आकार प्रदान नहीं कर सके।

इहरे और रास्क ने इस नियम को लेकर जो आधार प्रस्तुत किया था उसे ग्रिम ने निश्चित आकार और विस्तार प्रदान किया। इसलिए उसके नाम के साथ इस नियम का सम्बन्ध जुड़ गया। जैकब ग्रिम एक जर्मन भाषावैज्ञानिक थे जिन्होंने 1819 में एक जर्मन व्याकरण प्रकाशित किया। 1822 में जब उस व्याकरण का दूसरा संस्करण छापा गया तो उसमें ग्रिम ने उस नियम को पहली बार सिलसिलेवार तरीके से समझाया जिसे आज ग्रिमनियम के नाम से जाना जाता है।

ग्रिमनियम का सम्बन्ध भारतीय स्पर्श वर्णों के साथ है। व्यंजनों के मुख्य रूप से तीन वर्ग बनाए जाते हैं– स्पर्श, अन्त:स्थ और ऊष्म। स्पर्श व्यंजनों में क् से लेकर म् तक पच्चीस व्यंजनों से कवर्ग, चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग और पवर्ग का ग्रहण होता है। अंत:स्थ से य् र् ल् व् का ग्रहण होता है जब कि श् ष् स् ह् व्यंजन ऊष्म कहे जाते हैं। ग्रिमनियम का सम्बन्ध भारोपीय भाषा के स्पर्श व्यंजनों का साम्य है। भारत और यूरोप की उन भाषाओं को एक परिवार में रखा जाता है जिसका मूल स्रोत एक ही माना जाता है। इस मूल स्रोत को भारोपीय भाषा कहा जाता है और इस परिवार को भारोपीय परिवार। ग्रिमनियम का सम्बन्ध भारोपीय भाषा के स्पर्श व्यंजनों के साथ है।

ग्रिम-नियम वास्तव में जर्मनिक भाषा वर्ग की ध्वनियों को नियमित करता है पर चूंकि इसका सम्बन्ध भारोपीय भाषा परिवार के साथ है इसलिए परोक्ष रूप से इसका सम्बन्ध संस्कृत, अंग्रेजी आदि भाषाओं की ध्वनियों के साथ भी जुड़ जाता है। ग्रिम के अनुसार जर्मनिक भाषाओं में दो बार वर्ण-परिवर्तन हुआ। वे इसे क्रमश: प्रथम वर्ण-परिवर्तन और द्वितीय वर्ण-परिवर्तन कहते हैं।

ग्रिम ने भाषाई विकास के इतिहास के अनुमान के आधार पर इन दोनों वर्ण-परिवर्तनों के कालक्रम को भी यथासम्भव बताने का प्रयास किया है। ग्रिम के अनुसार प्रथम वर्ण परिवर्तन ईसा से कई सदी पूर्व हुआ और दूसरा वर्ण परिवर्तन ईसा की सातवीं सदी के आसपास हुआ। इस नियम के अनुसार ईसा से कई सदी पूर्व हुए प्रथम वर्ण परिवर्तन में भारोपीय भाषा के स्पर्श वर्णों का परिवर्तन जर्मनिक भाषा में हुआ जबकि सातवीं सदी ईस्वी के आसपास हुए दूसरे वर्ण-परिवर्तन में उन्हीं वर्णों का परिवर्तन उच्च जर्मन से निम्न जर्मन में हुआ।

प्रथम वर्ण-परिवर्तन में जब भारोपीय मूल भाषा के वर्णों का परिवर्तन जर्मनिक भाषा वर्ग में हुआ उस समय परिवर्तन इस प्रकार हुआ :

(क) भारोपीय मूलभाषा की सघोष महाप्राण स्पर्शध्वनियों का परिवर्तन जर्मनिक भाषा की सघोष अल्पप्राण ध्वनियों में हुआ।

(ख) भारोपीय मूलभाषा की सघोष अल्पप्राण ध्वनियों का परिवर्तन जर्मनिक भाषा की अघोष अल्पप्राण ध्वनियों में हुआ; और

(ग) भारोपीय मूलभाषा की अघोष अल्पप्राण ध्वनियों का परिवर्तन जर्मनिक भाषा की अघोष महाप्राण ध्वनियों में हुआ।

इस मूलभूत परिवर्तन तालिका का निर्देश कर देने के बाद ग्रिम ने उन वर्णों का भी विशिष्ट संकेत किया है जिनका उपर्युक्त तालिका के सन्दर्भ में भारोपीय मूलभाषा से जर्मनिक में परिवर्तन हुआ। वह वर्ण तालिका इस प्रकार है–

(क) भारोपीय मूलभाषा की घ् ध् भ् ध्वनियों का परिवर्तन जर्मनिक भाषा की ग् द् ब् ध्वनियों में हुआ;

(ख) भारोपीय मूलभाषा की ग् द् ब् ध्वनियों का परिवर्तन जर्मनिक भाषा की क् त् प् ध्वनियों में हुआ;

(ग) भारोपीय मूलभाषा की क् त् प् ध्वनियों का परिवर्तन जर्मनिक भाषा की ख् थ् फ् ध्वनियों में हुआ।

प्रथम वर्ण परिवर्तन की इस शास्त्रीय तालिका का सरल और संक्षिप्त प्रस्तुतीकरण कुछ भाषावैज्ञानिकों ने दो प्रकार के रेखाचित्रों के माध्यम से करने का प्रयास किया है जो इस प्रकार हैं–
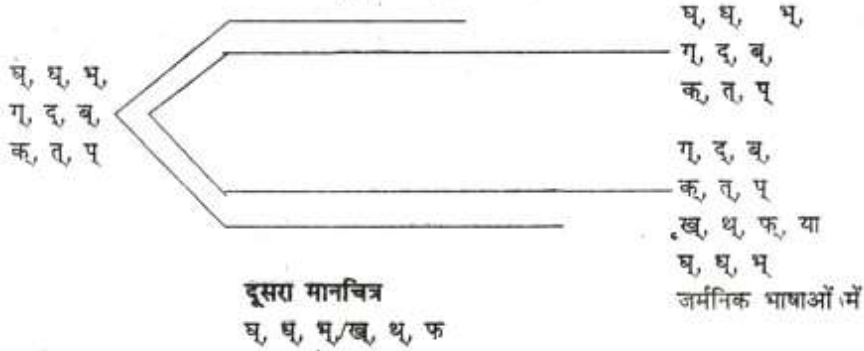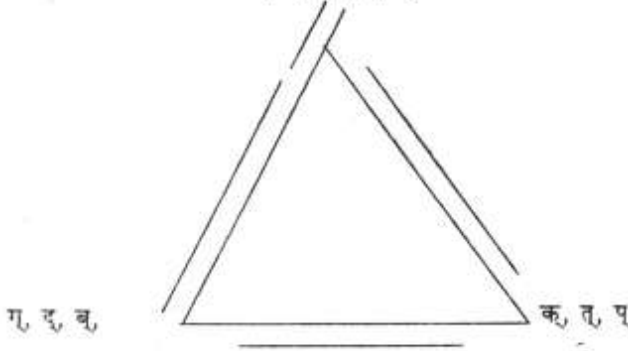
इस विविध तालिका प्रदर्शन के बाद हम प्रथम वर्ण-परिवर्तन के कुछ उदाहरणों का अध्ययन करते हैं। भारतीय छात्रों की समस्या यह है कि उन्हें प्राय: न तो भारोपीय मूलभाषा का ज्ञान होता है और न ही उन्हें जर्मन भाषा का ज्ञान है। इसलिए उनकी सुविधा के लिए इन दोनों भाषा वर्गों की उन भाषाओं के उदाहरणों का अध्ययन किया जा रहा है जिन भाषाओं की जानकारी उन्हें प्राय: होती है। इसलिए भारोपीय भाषा वर्ग में से संस्कृत भाषा के उदाहरण लिए जा रहे हैं। संस्कृत न केवल भारत की प्राचीनतम भाषा है अपितु भारोपीय परिवार की भी यह प्राचीनतम भाषा है। ऐसा माना जाता है कि संस्कृत में भारोपीय भाषा के वर्ण सर्वाधिक सुरक्षित हैं। इसके अतिरिक्त ऊपर दिखाए गए पहले मानचित्र से भी यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रथम वर्ण परिवर्तन के दौरान भी भारोपीय मूलभाषा के वर्ण संस्कृत में अपने अपरिवर्तित मूलरूप से बने रहे। दूसरी ओर जर्मनिक भाषा वर्ग से अंग्रेजी के उदाहरण लिए जा सकते हैं जो न केवल इस वर्ग की महत्त्वपूर्ण भाषा है अपितु जिस पर द्वितीय वर्ण-परिवर्तन का कोई प्रभाव नहीं पड़ा है और जिसमें प्रथम वर्ण-परिवर्तन के प्रभाव सुरक्षित हैं। इसलिए यहां संस्कृत और अंग्रेजी के शब्दों के आधार पर ग्रिमनियम के प्रथम वर्ण-परिवर्तन का अध्ययन किया जा रहा है।

मूल वर्ण	परिवर्तित वर्ण	भारोपीय शब्द (संस्कृत)	जर्मनिक शब्द (अंग्रेजी)
घ् (ह्)	ग्	हंस:	गूज़ (Goose)
ध्	द्	विधवा	विडो (ड् द्) (widow)
भ्	ब्	भ्राता	ब्रदर (brother)
ग्	क्	गौ:	कौ (cow)
द्	त्	दन्त	टुथ (ट् त्) (tooth)
ब्	प्	बाधन्	पेन (pain)
क्	ख् (ह)	क:	हू (who)

त्	थ्	तनु	थिन (thin)
प्	फ्	पिता	फादर (Father)

इस तालिका के आधार पर कुछ बातें विचारणीय हैं। घ् और ख् का प्रतिनिधित्व ह् के रूप में किया गया है। भाषाई अध्ययन की दृष्टि से इसमें कोई अन्तर नहीं पड़ता क्योंकि ये दोनों शब्द महाप्राण हैं और महाप्राणता में ह् का वर्चस्व असन्दिग्ध है। दूसरी विचारणीय बात यह है कि अंग्रेजी में ट् और त् का प्रयोग नहीं होता क्योंकि अंग्रेज लोग इन दो ध्वनियों का उच्चारण नहीं कर पाते। इसलिए इन दो ध्वनियों का प्रतिनिधित्व क्रमशः ड् और द् के द्वारा किया गया है। तीसरी बात यह है कि संस्कृत अंग्रेजी के आधार पर ब् प् का कोई सटीक उदाहरण नहीं उपलब्ध हो पाया इसलिए ग्रीक शब्द स्ल्युब की तुलना अंग्रेजी शब्द स्लिप के साथ कर इस तालिका को प्रायः पूरा कर लिया जाता है।

अब हम दूसरे वर्ण-परिवर्तन की ओर आते हैं। ग्रिम के अनुसार यह वर्ण-परिवर्तन सातवीं शताब्दी ईस्वी के आस-पास हुआ और इस वर्ण-परिवर्तन से केवल जर्मन भाषा ही प्रभावित हुई। इस परिवर्तन के परिणामस्वरूप पुरानी जर्मन भाषा को उच्चजर्मन कह दिया गया और जर्मन भाषा के उस नए रूप को जिसके वर्ण प्रभावित हुए निम्नजर्मन कह दिया गया। इतिहासकारों की मान्यता है कि यह परिवर्तन उस समय हुआ जब एंग्लो-सैक्सन जाति के लोग जर्मन जाति के लोगों से पृथक् हो गए। इसलिए अंग्रेजी सदृश एंग्लो सेक्सन भाषाएं, जिन्होंने प्रथम वर्णपरिवर्तन के प्रभावों को ग्रहण कर लिया था, द्वितीय वर्ण-परिवर्तन से नितान्त अप्रभावित रहीं।

द्वितीय वर्ण-परिवर्तन चूंकि केवल जर्मन भाषा और उसके दो रूपों से सम्बन्ध रखता है, इसलिए तुलनात्मक भाषाविज्ञान में उसका वह महत्त्व नहीं है जो प्रथम वर्ण-परिवर्तन का है। इसलिए यहां उसका संक्षिप्त विवेचन ही किया जा रहा है। इसमें उल्लेखनीय बात यह है कि जिस प्रकार कुछ स्पर्श ध्वनियों का परिवर्तन मूल भारोपीय भाषा से जर्मनिक में हुआ, वैसी ही ध्वनियों का परिवर्तन पुरानी जर्मन से नई जर्मन में हुआ। इसको तालिका के आधार पर इस प्रकार समझा जा सकता है :

पुरानी जर्मन		**नई जर्मन**
ग् द् ब्	=	क् त् प्
क् त् प्	=	ख् (ह्) थ् फ्
ख् (ह्) थ् फ्	=	ग् द् ब्

स्पष्ट है कि परिवर्तन की दिशा एवं स्वरूप एकदम वही है जो प्रथम वर्ण-परिवर्तन में प्राप्त होता है। एक दूसरी तालिका के आधार पर यह समझा जा सकता है कि मूल भारोपीय भाषा के वर्ण दो परिवर्तनों के बाद नई जर्मन में किस तरह का आकार ग्रहण कर सके–

मूल भारोपीय		**पुरानी जर्मन**		**नई जर्मन**
घ् ध् भ्	=	ग् द् ब्	=	क् त् प्
ग् द् ब्	=	क् त् प्	=	ख् थ् फ्
क् त् प्	=	ख् थ् फ्	=	ग् द् ब्

इस तालिका के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि यदि मूल भारोपीय भाषा और पुरानी जर्मन की ध्वनियों की तुलना करनी हो तो उसमें हमें एक कदम आगे बढ़ना होगा, परन्तु यदि मूल भारोपीय भाषा की तुलना नई जर्मन से करनी हो तो हमें दो कदम आगे बढ़ना होगा।

3. ग्रासमैन नियम

यद्यपि ग्रिम का यह ध्वनि नियम पर्याप्त वैज्ञानिक और ठोस प्रतीत होता है, किन्तु परवर्ती भाषा वैज्ञानिकों ने इसमें कुछ कमियाँ खोज ही लीं। जिन भाषा वैज्ञानिकों ने ग्रिमनियम की पूरी छानबीन कर उसमें से कमियाँ निकालीं उनमें से मुख्य हैं–ग्रासमैन और वर्नर। इन दोनों के नाम से भी तुलनात्मक भाषा विज्ञान में दो नियम प्रचलित हैं–ग्रासमैननियम और वर्नरनियम। यद्यपि इन दोनों के नाम से दो ध्वनिनियमों का प्रचलन हो गया है तथापि इन दोनों नियमों को स्वतन्त्र नियम उस प्रकार नहीं माना जा सकता जिस प्रकार ग्रिमनियम को माना जा सकता है। वस्तुतः इन दोनों में ग्रिमनियम पर ही विचार करते हुए उसमें यथासम्भव संशोधन प्रस्तुत किया गया है। इसलिए इन दोनों नियमों को ग्रिमनियम का विस्तार ही कहा जा सकता है। फिर भी भाषाविज्ञान में इन्हें स्वतन्त्र मान्यता प्राप्त है।

ग्रासमैन को मुख्य रूप से ग्रिम नियम में जो कमी दृष्टिगोचर हुई वह यह थी कि जर्मनिक और दूसरी भारोपीय भाषाओं में कुछ ध्वनि-परिवर्तन उस प्रकार से नहीं हो रहे थे जिस प्रकार वे जैकब ग्रिम के नियम के अनुसार होने चाहिए थे। उदाहरण के लिए ग्रीक के किंग्स्वों, तुप्तोस, पिथास का अंग्रेज़ी में Go, dumb और body शब्द बनते हैं किन्तु ग्रिम नियम के अनुसार ho, Thumb और fody होना चाहिये था। इसी तरह संस्कृत का बन्ध् शब्द अंग्रेजी में बाइन्ड मिलता है। ग्रिम नियम के अनुसार ब् का परिवर्तन प् में और ध् का परिवर्तन द् में होना चाहिए था। प्रस्तुत उदाहरण में बन्ध् के ध् का परिवर्तन बाइन्ड के ड् (जो द् का ही प्रतिरूप है) में हो गया है, पर ब् का ब् ही रहा है, प् नहीं हुआ है। इसी प्रकार दर्भ का परिवर्तन दाब्स में हुआ। यहां द् और भ् का परिवर्तन क्रमशः त् और ब् में होना चाहिए था। भ् का परिवर्तन तो ब् में हो गया है पर द् का द् ही रहा है त् नहीं हुआ है।

इस प्रकार के अन्य भी अनेक उदाहरण थे। इन अपवादों की सूक्ष्म परीक्षा पर ग्रासमैन ने ग्रिम नियम को लेकर दो नए अनुमान जोड़े या संशोधन किए। ग्रासमैन ने पहला संशोधन यह किया कि "भारोपीय मूल भाषा में यदि शब्द या धातु के आदि और अन्त में दोनों स्थानों पर महाप्राण हों तो संस्कृत, ग्रीक आदि में एक अल्पप्राण हो जाता है।" इसी को पृथक् शब्दावलि देते हुए ग्रासमैन ने एक अनुमान या संशोधन यह किया कि यदि संस्कृत आदि के कुछ शब्दों के वर्णों का परिवर्तन जर्मनिक में उस तरह में होता दृष्टिगोचर नहीं होता जिस प्रकार से ग्रिम नियम के अनुसार होना चाहिए तो उसके आधार पर यह अनुमान लगा लेना चाहिए कि भारोपीय से संस्कृत तक आते-आते एक बार ग्रिम नियम के अनुसार परिवर्तन हो चुका है इसलिए दोबारा परिवर्तन होने की सम्भावना नहीं हो सकती।

इस संशोधन की सहायता से हम उपर्युक्त दोनों उदाहरणों में ग्रिम नियम की पुनः परीक्षा कर सकते हैं। ग्रासमैन के मतानुसार फार्मूला यह बनेगा कि यदि बन्ध्-बाइण्ड में और दर्भ-दाब्स में ब् और द् का क्रमशः प् और त् नहीं हुआ है तो इसका कारण यह है कि मूल भारोपीय भाषा के भन्ध् और धर्भ से संस्कृत तक आते-आते बन्ध् और दर्भ में पहले से ही भ् और ध् वर्णों का परिवर्तन ग्रिम नियम के अनुसार ब् और द् में हो चुका है इसलिए पुनः इस नियम अनुसार परिवर्तन कैसे हो सकता है। इस संशोधन के आधार पर ग्रासमैन ने ग्रिम नियम की परिपक्वता सुदृढ़ कर दी।

4. वर्नर नियम

यद्यपि ग्रासमैन ने ग्रिम नियम में कुछ संशोधन कर दिया पर अभी भी कुछ अपवाद रह गए थे जिन पर वर्नर ने संशोधन दिए। वे संशोधन मुख्य रूप से तीन थे–

1. वर्नर ने अपने शोध के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला कि ग्रिम नियम बलाघात पर आधारित है। मूल भारोपीय पितृभाषा के क् त् प् से पूर्व यदि बलाघात हो तो ग्रिम नियम के अनुसार परिवर्तन होगा परन्तु यदि क् त् प् के बाद बलाघात होगा तो परिवर्तन एक कदम आगे अर्थात् ख् थ् फ् में न होकर ग् द् ब् में होगा।
2. ग्रिम नियम का प्रभाव स् पर नहीं पड़ता। परन्तु कुछ उदाहरणों में स् के स्थान पर र् का प्रयोग मिला है। वर्नर ने इसका समाधान भी बलाघात में खोज निकाला। यदि बलाघात स् से पूर्व होगा तो परिवर्तन नहीं होगा परन्तु यदि बलाघात स् के बाद होगा स् का र् हो जाएगा।
3. तीसरा महत्त्वपूर्ण संशोधन वर्नर ने यह किया कि मूल भारोपीय पितृभाषा में जहां क् त् प् से पूर्व स् का प्रयोग होगा अर्थात् स्क्, स्त् स्प् का प्रयोग होगा, उसका परिवर्तन नहीं होगा जो अन्यथा ग्रिम नियम के अनुसार ख् थ् फ् में होना चाहिए था।

5. तालव्य नियम

अभी तक ध्वनि विज्ञान में केवल दो ध्वनिनियमों पर ही विशेष प्रकार से काम हो सका है–ग्रिमनियम और तालव्य नियम। इसके अतिरिक्त ऊपर जिन दो नियमों–ग्रासमैन और वर्नर नियम का विवेचन किया गया है वे चूंकि ग्रिम नियम से उत्पन्न होने वाले कुछ अपवादों का समाधान करते हैं और अपनी दृष्टि से कुछ संशोधन भी प्रस्तुत करते हैं इसलिए उन्हें स्वतन्त्र नियम न मानकर ग्रिम नियम पर ही संशोधन या उसका विस्तार मानना चाहिए। निस्सन्देह इन दोनों नियमों को उनके प्रस्तुतकर्त्ता विद्वानों–ग्रासमैन और वर्नर–के नाम मिल गए हैं तथापि उन्हें स्वतन्त्र नियम नहीं माना जा सकता।

ग्रिमनियम के समान ही दूसरा स्वतन्त्र नियम है–तालव्य नियम। यह केवल संयोग ही नहीं है कि दोनों नियमों का सम्बन्ध मूल भारोपीय पितृभाषा के साथ है। इसका कारण यह है कि संस्कृत केन्द्रित भारतीय (और कुछ सीमा तक यूरोपीय) भाषाओं

का जितना अधिक अध्ययन और उसके कारण काल्पनिक मूल पितृभाषा अर्थात् भारोपीय भाषा पर जितना गहन चिन्तन पहली दो शताब्दियों में हुआ है उतना अन्य किसी भी भाषा का नहीं हुआ है। इतना अवश्य है कि ग्रिम नियम का प्रारम्भ तो भारोपीय भाषा के आधार पर होता है पर उसका प्रभाव क्षेत्र अन्ततः जर्मनिक भाषा वर्ग और फिर जर्मन भाषा बन जाता है वहां तालव्य नियम का सम्बन्ध आद्योपान्त रूप से भारोपीय मूल पितृभाषा और भारोपीय भाषा परिवार के साथ ही रहता है।

तालव्य नियम को समझने के लिए भारोपीय भाषा की कुछ पृष्ठभूमि को जानना आवश्यक है। अट्ठारहवीं सदी के अन्त में जब यूरोप के विद्वान संस्कृत के सम्पर्क में आए तो उन्हें यह देखकर बहुत ही आश्चर्य हुआ कि संस्कृत, ग्रीक और लेटिन में बहुत अधिक समानता है। इस समानता से और संस्कृत की तुलनात्मक श्रेष्ठता से प्रभावित होकर सर विलियन जोन्स ने सन् 1786 में यहां तक कह डाला कि संस्कृत चाहे जितनी भी पुरानी भाषा हो, उसकी संरचना और उसकी परिष्कृति ग्रीक और लेटिन दोनों से कहीं श्रेष्ठतर है।

इस आश्चर्यजनक तुलना से प्रभावित होकर यूरोप के विद्वान इस विषय में विचार करने लगे कि क्या इन सभी भाषाओं का मूल स्रोत एक ही हो सकता है? अवेस्ता की भाषा के अध्ययन के साथ ही इस धारणा को और भी अधिक बल प्राप्त हुआ। प्रारम्भ में भाषावैज्ञानिकों ने यह माना कि सम्भवतः संस्कृत ही वह भाषा है जिनसे भारत और यूरोप की दूसरी भाषाएं उत्पन्न और विकसित हुई हैं क्योंकि इन सभी भाषाओं में संस्कृत ही प्राचीनतम भाषा थी।

पर शीघ्र ही इस विचार में परिवर्तन हुआ। जैसे-जैसे इन पुरानी क्लासिकल भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन से नए-नए निष्कर्ष सामने आने लगे वैसे-वैसे यह धारणा बनने लगी कि संस्कृत बेशक इन सभी में से प्राचीनतम भाषा हो, पर कोई दूसरी भाषा इस पृथ्वी पर ऐसी अवश्य रही होगी जिससे संस्कृत सहित ये सभी ग्रीक, लेटिन, अवेस्ता और गौथिक सदृश प्राचीन क्लासिकल भाषाएं विकसित हुईं। हां, इतना अवश्य मान लिया गया कि इस मूल भाषा की ऐतिहासिक विशेषताएं सबसे ज्यादा संस्कृत में ही सुरक्षित हैं।

परन्तु इस मूल भाषा को खोजने में बहुत कठिनाई आ रही थी। इसका कारण यह था कि न तो ऐसे किसी स्थान का निश्चय हो पा रहा था जहां यह मूल भाषा बोली जाती रही होगी और न ही ऐसी किसी जाति का पता चल पा रहा था जो इस मूल भाषा को बोला करती होगी। इतना ही नहीं इस मूल भाषा के कोई साहित्यिक, लिखित या मौखिक अवशेष या सन्दर्भ भी कहीं नहीं मिल पा रहे थे।

साथ ही यह भी समस्या पैदा हुई कि इस मूल भाषा को क्या नाम दिया जाए। कई नाम सुझाए गए—आर्य, जफेटिक, संस्कृत, जर्मनिक, केल्टिक आदि। पर इनमें से प्रत्येक नाम के साथ कई प्रकार की सीमाएं जुड़ी हुई थीं। फिर एक सार्थक, व्यापक और उचितार्थ नाम खोज लिया गया। चूंकि इस एकीभूत परिवार की भाषाएं मुख्य रूप से भारत उपमहाद्वीप और यूरोप में ही फैली हुई थीं, इसलिए इन भाषाओं को भारत-यूरोपीय भाषा परिवार कहा जाने लगा। इस परिवार की मूल भाषा को इसी का संक्षिप्त नाम भारोपीय दे दिया गया। चूंकि यह भाषा काल्पनिक थी इसलिए पाश्चात्य भाषावैज्ञानिकों ने इस भाषा को "भारोपीय काल्पनिक मूल पितृभाषा" कहना प्रारम्भ कर दिया।

भारोपीय पितृभाषा विशेष रूप से इसलिए काल्पनिक कही गई क्योंकि इसका कोई संकेत अथवा भाषाई सन्दर्भ न मिल पाने के कारण प्राचीन क्लासिकल भाषाओं की ध्वनियों, पदों और वाक्य रचना की तुलना के आधार पर भारोपीय पितृभाषा की ध्वनियों, पदरचना और वाक्यरचना की कल्पना कर ली गई।

इस काल्पनिक पितृभाषा के स्वरों और व्यंजनों की जब कल्पना की गई तो मान लिया गया कि इस भाषा में तीन प्रकार के स्पर्श व्यंजन वर्ग थे—

कवर्ग	=	क् ख् ग् घ्
तवर्ग	=	त् थ् द् ध्
पवर्ग	=	प् फ् ब् भ्

पर इस भाषा परिवार की अन्य प्रायः सभी भाषाओं में पाँच व्यंजन वर्ग थे—कवर्ग, चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग और पवर्ग। यदि एक वार यह मान भी लिया जाए कि टवर्ग और तवर्ग वस्तुतः एक ही व्यंजन वर्ग हैं और वे विभिन्न ध्वनिपरिवेशों में कहीं तवर्ग कहीं टवर्ग बन जाते हैं, फिर भी चवर्ग के अभाव की समस्या तो थी ही। चवर्ग उच्चारणस्थान के आधार पर तालुस्थानीय अथवा तालव्य व्यंजनवर्ग माना गया है। इसलिए यह समस्या आई कि यदि भारोपीय मूल पितृभाषा में तालव्य व्यंजनवर्ग नहीं था तो भारोपीय भाषा परिवार की दूसरी भाषाओं में तालव्य कहां से आया?

इस समस्या के समाधान में से ही तालव्य नियम की उत्पत्ति हुई है। यह मान लिया गया कि भारोपीय भाषा में तीन व्यंजनवर्ग थे—कवर्ग, तवर्ग और पवर्ग। पर कवर्ग, जो उच्चारण स्थान की दृष्टि से कण्ठस्थ व्यंजनवर्ग माना जाता है, वास्तव में एक व्यंजनवर्ग न होकर तीन उपवर्गों में बंटा हुआ था। वे तीन उपवर्ग ये हैं—

क् वर्ग = क्, ख्, ग्, घ्,
क्य् वर्ग = क्य्, ख्य्, ग्य्, घ्य्
क्व् वर्ग = क्व्, ख्व्, ग्व्, घ्व्

इन उपवर्गों के आधार पर कल्पना की गई कि कुछ भाषाओं में ये तीनों वर्ग कवर्ग के रूप में ही विकसित हुए परन्तु कुछ अन्य भाषाओं में इनका विकास तालव्य व्यंजनों अर्थात् च्, छ्, ज्, झ्, श् में हुआ। प्रश्न उठता है कि किन परिस्थितियों में ये कण्ठ्य व्यंजन भारोपीय परिवार की कुछ भाषाओं में चवर्ग में परिणत हो गये? इस प्रश्न के उत्तर में जो तर्क अथवा नियम दिया जाता है वही तालव्य नियम है।

नियम यह है कि मूल भारोपीय पितृभाषा के ये कण्ठस्थानीय कवर्ग प्राय: कवर्ग ही रहते हैं पर जब इनके प्रयोग के बाद किसी तालव्य स्वर अर्थात् इ, ए, ऐ, का प्रयोग होता है तो इनका परिवर्तन तालुस्थानीय च्, छ्, ज्, झ्, श् में हो जाता है। भारोपीय मूलभाषा और संस्कृत के कुछ शब्दों को हम उदाहरण के रूप में प्रस्तुत कर सकते हैं—

भारोपीय	**संस्कृत**
क्वेन्तेम्	शतम्
पेनक्वे	पञ्च
क्वि	चित्
देदोर्क्ये	ददर्श
क्वेन्तेरोस	चत्वार:
उग्वेरोस	उग्र:

इसी का नाम तालव्य नियम है। इस ध्वनिनियम की खोज सर्वप्रथम 1870 में अस्कोवी नामक भाषा-वैज्ञानिक ने की थी। इसके आधार पर वान ब्रैडके ने पूरे भारोपीय भाषा परिवार को दो उपवर्गों में विभक्त कर दिया। जिन भाषाओं में मूल भारोपीय पितृभाषा की कण्ठ ध्वनियां कण्ठ ही रहती हैं और उनमें कोई परिवर्तन नहीं आता, उन्हें केन्तुम् उपवर्ग की भारोपीय भाषाएं माना गया। इसके अन्तर्गत मुख्य रूप में केल्टिक, जर्मनिक, इटेलियन और ग्रीक भाषाएं आती हैं। दूसरा उपवर्ग उन भारोपीय भाषाओं का बनाया गया जिनमें मूल भारोपीय पितृभाषा की कण्ठ्य ध्वनियों का परिवर्तन तालव्य ध्वनियों में हो जाता है। इसे शतम् उपवर्ग कहा गया जिसके अन्तर्गत मुख्य रूप से भारत, ईरानी, बाल्तोस्काविक, आर्मेनियन, अल्बेनियन भाषाएं आती हैं।

पाठ 8
अर्थविज्ञान

1. अर्थ की परिभाषा

पाठ संख्या दो में इस बात की विस्तार से चर्चा की गई है कि क्या अर्थ के अध्ययन को भाषाविज्ञान ... चाहिए (या नहीं)। यद्यपि यह बात सत्य है कि चूंकि अर्थ का सम्बन्ध मनुष्य की इच्छा से है और इच्छा के आयामों क... विश्लेषण सम्भव नहीं है इसलिए अर्थ का भी वैज्ञानिक विवेचन सम्भव न होने के कारण इसे भाषा विज्ञान का विषय नही ...ना जा सकता। परन्तु इस विचार को मान्यता नहीं दी जा सकती क्योंकि भाषा के गठन में ध्वनि के साथ अर्थ का भी विशेष महत्त्व है, भाषाविज्ञान का विषय आदि भाषा का अध्ययन है तो उसमें भाषा के सभी पक्षों का अध्ययन होना चाहिए, ध्वनि आदि किसी एक पक्ष का नहीं।

भाषाविज्ञान के एक महत्त्वपूर्ण अंग के रूप में जब हम अर्थविज्ञान का अध्ययन करते हैं तो सबसे पहले प्रश्न यह उठता है कि 'अर्थ' की परिभाषा क्या है? कोई भी वैयाकरण अथवा भाषावैज्ञानिक अर्थ की वैज्ञानिक अथवा सन्तोषजनक परिभाषा नहीं दे पाया है। इसका कारण वही है जिसका संकेत ऊपर किया गया है। अर्थ का सम्बन्ध चूंकि मनुष्य की इच्छा से है इसलिए इच्छा का और अर्थ का वैज्ञानिक विवेचन सम्भव ही नहीं है।

फिर भी भारत के प्रसिद्ध वैयाकरण आचार्य भर्तृहरि ने व्याकरण दर्शन पर लिखे अपने ग्रन्थ 'वाक्यपदीय' में अर्थ की एक विश्वसनीय और यथासम्भव वैज्ञानिक परिभाषा प्रस्तुत की है। चूंकि आधुनिक भाषावैज्ञानिक अर्थ का सम्बन्ध भाषाविज्ञान के साथ मानने के बजाए दर्शनशास्त्र के साथ मानते हैं, सम्भवत: यही कारण है कि भर्तृहरि एक साथ ही भाषाविद् और दार्शनिक होने के कारण अर्थ की सन्तोषजनक परिभाषा दे पाने में समर्थ सिद्ध हुए।

आचार्य भर्तृहरि ने अर्थ की परिभाषा देते हुए कहा है,

"यस्मिंस्तूच्चरिते शब्दे यदा योऽर्थः प्रतीयते।
तमाहुरर्थं तस्यैव नान्यदर्थस्य लक्षणम्।।"

इसका अर्थ यह है कि 'शब्द के उच्चारण करते ही जिस अर्थ की प्रतीति होती है वही उस शब्द का अर्थ होता है इसके अतिरिक्त अर्थ की कोई दूसरी परिभाषा नहीं हो सकती।'

भर्तृहरि के द्वारा दी गई परिभाषा इसलिए महत्त्वपूर्ण है कि उन्होंने अर्थ से सम्बद्ध तीन पक्षों की ओर स्पष्ट रूप से संकेत किया है। पहला पक्ष इस कारिका के तीसरे पाद में है–'तमाहुरर्थं तस्यैव' अर्थात् उसी को उस शब्द का ही अर्थ कहते हैं। इसमें भर्तृहरि ने अर्थ की परिभाषा ध्वनि अथवा शब्द की परिधि में की है, स्वतन्त्र इकाई के रूप में नहीं यह धाराणा अपने आप में पूर्ण वैज्ञानिक कही जा सकती है। इसका कारण यह है कि भाषा के आकार ग्रहण करने की प्रक्रिया में हमारा सबसे पहला परिचय ध्वनि अथवा शब्द से ही होता है। यद्यपि अन्ततोगत्वा यही सिद्धान्त स्थिर होता है कि वाक्य भाषा की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण ही नहीं मूलभूत इकाई है, तथापि भाषा का सम्पूर्ण बाह्य अस्तित्व ध्वनि के उच्चारण पर ही निर्भर करता है। इसी सन्दर्भ में अर्थ की परिभाषा को शब्द के सन्दर्भ में बताना ठीक ही लगता है। एक तर्क और भी है अर्थ का अस्तित्व न केवल उच्चार्यमाण शब्द के साथ अविनाभाव से जुड़ा हुआ है अपितु जिस अर्थ की प्राप्ति हमें हो रही होती है वह अर्थ उसी शब्द का होता है जिसका उच्चारण हम कर रहे होते हैं। अर्थात् कोई भी एक अर्थ अलग-अलग शब्दों का नहीं हो सकता। प्रत्येक शब्द का अपना अलग-अलग अर्थ होता है जिसका सम्बन्ध दूसरे शब्द के साथ नहीं होता।

इस परिभाषा का दूसरा महत्त्वपूर्ण पक्ष अर्थ की 'प्रतीति' को लेकर है 'योऽर्थः प्रतीयते'। प्रतीति का अर्थ होता है आभास अर्थात् जिसका वास्तविकता से कोई सम्बन्ध न हो। इसे भी हम भर्तृहरि की वैज्ञानिक दृष्टि का प्रतीक मान सकते हैं। यह भाषाई सत्य है कि जहां संस्कृत वैयाकरणों ने ध्वनि अथवा शब्द को नित्य माना है वहां अर्थ को प्रतीति अथवा आभास माना गया है। उदाहरणतया 'पुस्तक' शब्द के उच्चारण के साथ ही हमें जिस अर्थ की उसके अनुसार प्रतीति होती है वह उसका सही,

वास्तविक और वैज्ञानिक अर्थ है इसे सिद्ध करने के लिए हमारे पास कोई भी कारण अथवा कसौटी नहीं है। 'पुस्तक' शब्द के उच्चारण से हमें जिस अर्थ की प्रतीति हो रही है वह किसी और शब्द से भी हो सकती थी और 'पुस्तक शब्द' हमें जिस अर्थ की प्रतीति करवा रहा है वह हमें अन्य अर्थ की प्राप्ति भी करवा सकता था। कोई तर्क अथवा वैज्ञानिक कारण हमारे पास यह सिद्ध करने के लिए नहीं है कि पुस्तक शब्द का उच्चारण करते ही हमें जो अर्थ प्राप्त हो रहा है वह उसका वास्तविक अर्थ है। इस आधार पर प्रत्येक अर्थ को प्रतीति अथवा आभास से अधिक माना ही नहीं जा सकता। शब्दार्थ सम्बन्ध पर विमर्श करते समय इस विषय पर और भी अधिक विवेचन किया जायेगा।

भर्तृहरि ने अपनी अर्थ-परिभाषा में 'यदा' शब्द का प्रयोग किया है जो बहुत महत्त्वपूर्ण है। अर्थात् जिस शब्द का उच्चारण करते समय "जब" जो अर्थ प्राप्त हो रहा हो वही उसका अर्थ है। "यदा" का प्रयोग कर भर्तृहरि ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि किसी भी शब्द का कोई अर्थ स्थायी नहीं होता बल्कि जिस समय उस शब्द का जो अर्थ है वही उसका अर्थ मान लिया जाना चाहिए। जिस प्रकार भर्तृहरि ने अर्थ का सम्बन्ध प्रतीति से जोड़कर यह कह दिया है कि किसी भी शब्द का कोई अर्थ वास्तविक नहीं होता उसी प्रकार "यदा" का प्रयोग कर उन्होंने यह स्पष्ट कर दिया है कि किसी शब्द का कोई अर्थ स्थायी नहीं होता है। किसी शब्द से जिस अर्थ की आज प्रतीति हो रही है कल को उसका अर्थ बदल भी सकता है। ऐसा कहकर भर्तृहरि ने अर्थ की परिवर्तनशीलता के मूलभूत सिद्धान्त में अपनी आस्था व्यक्त की है जिस पर आगे चलकर इसी पाठ में विस्तार से विचार किया जायेगा।

2. शब्दार्थ सम्बन्ध

अर्थ की परिभाषा जान लेने के बाद प्रश्न उठता है कि शब्द और अर्थ का आपस में क्या सम्बन्ध है? इस प्रश्न को इस रूप में रखा जा सकता है कि किसी शब्द से अर्थ की प्राप्ति कैसे होती है। वैसे तो ऊपर के पृष्ठों में अर्थ की परिभाषा के विस्तृत विवेचन की प्रक्रिया में इस प्रश्न को एक सीमा तक स्पर्श किया गया है, परन्तु उससे अलग से भी विश्लेषण की आवश्यकता निश्चित रूप से है। भारत में इस प्रश्न पर अनेक दार्शनिक सम्प्रदायों में गहन विचार हुआ। आधुनिक पाश्चात्य भाषावैज्ञानिकों ने भी इस पर पर्याप्त विमर्श किया है किन्तु भारतीय दार्शनिक इस क्षेत्र में काफी आगे बढ़े हुए हैं। इन सभी सिद्धान्तों का परीक्षण करने से पहले छात्रों को इस विषय पर उस यादृच्छिकतावाद का पुनः स्मरण कराया जा रहा है जिसका विवेचन पाठ संख्या एक में किया गया है।

भाषा की विशेषताओं का विस्तार से विवेचन करते हुए वहां यह बताया गया था कि 'यादृच्छिकता' भाषा की सबसे बड़ी विशेषता है। जब कोई भाषा व्याकरण की सहायता से सीखी जा रही होती है तो हमें लगता है कि वह भाषा किसी तार्किक आधार पर टिकी है। ऐसा मानने के अनेक कारणों में एक कारण यह होता है कि हमें उस भाषा के प्रत्येक शब्द का निश्चित अर्थ ज्ञात हो जाता है। इससे हम इस भ्रान्ति के वश में हो जाते हैं कि मानों प्रत्येक शब्द का कोई निश्चित अर्थ होता है। परन्तु वस्तुतः ऐसा नहीं है। वास्तव में शब्द और अर्थ का पारस्परिक सम्बन्ध किसी तर्क पर टिका हुआ नहीं है। यदि हम कुर्सी नामक इस शब्द का सम्बन्ध किसी खास अर्थ या पदार्थ से जोड़ते हैं तो वह किसी तर्क पर आश्रित नहीं है। यह सम्बन्ध यादृच्छिक है, स्वयमेव है।

पाश्चात्य विद्वानों ने भी इस विषय पर कुछ विचार किया है। शब्द और अर्थ के पारस्परिक सम्बन्ध पर विचार करते हुए प्रसिद्ध यूरोपीय भाषावैज्ञानिक स्टर्टिवन्ट ने कहा है–'कुछ भी हो यह सर्वथा निश्चित है कि शब्दों का अर्थ स्वाभाविक नहीं है। यह सत्य नहीं हो सकता कि एक ही पदार्थ के स्वाभाविक रूप से अंग्रेजी, लैटिन, जर्मन, फ्रैंच आदि में भिन्न-भिन्न नाम रखे जाएं। किसी न किसी प्रकार से प्रत्येक शब्द का अर्थ समझौते का फल है।" इसके विपरीत प्राचीन यूनानी विद्वान् हिरैक्लिट्स ने शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को नित्य माना था।

परन्तु शब्दार्थ सम्बन्ध को लेकर जितना विवाद भारत के दर्शन और भाषाविज्ञान के विद्वानों के बीच है उतना अन्यत्र कहीं नहीं है। यह भारी विवाद इस तथ्य का परिचायक है कि हमारे देश में इस पर गहन चिन्तन हुआ है। पूर्व मीमांसा दर्शन के प्रसिद्ध विद्वान् जैमिनि का कहना है–"औत्पत्तिकः खलु शब्दनामर्थैः सह सम्बन्धः।" यहां औत्पत्तिक शब्द नित्यतावाची है। यहां नित्य सम्बन्ध से जैमिनि का तात्पर्य क्या है इस पर आगे विचार किया जायेगा। न्यायदर्शन के प्रणेता अक्षपाद गौतम ने अपने ग्रन्थ न्यायसूत्र में इस पर कहा है–"सामयिकः शब्दार्थसम्प्रत्यः"। यहां सामयिक का अर्थ है सांकेतिक। इसका अर्थ यह है कि प्रत्येक शब्द का अपने अर्थ के साथ सम्बन्ध तो हमेशा विद्यमान रहता है किन्तु उसका ज्ञान बिना संकेत के नहीं होता। नैयायिकों का

ऐसा कहना है कि सृष्टि के आदि में ईश्वर ने इस संकेत को बता दिया था। वैशेषिक दर्शन ने शब्दार्थ-सम्बन्ध को लेकर न्यायदर्शन का ही अनुकरण किया है।

संकेत की अधिक व्याख्या करते हुए योगसूत्रों पर व्याकरणभाष्य में कहा गया है "किमस्य संकेतकृतं वाच्यवाचकत्वम्? अथ प्रदीप-प्रकाशवदस्थितम्?" अर्थात् शब्द और अर्थ का वाच्यवाचक सम्बन्ध सांकेतिक है अथवा दीपक और उसके प्रकाश के समान स्वत: सिद्ध है? भाष्यकरव्यास का कहना है कि यह स्वत: सिद्ध है और ईश्वर का संकेत इस पूर्वत: स्थित शब्दार्थ को स्पष्ट करता है। जैसे समाज में पिता-पुत्र का सम्बन्ध पहले से ही अवस्थित रहता है और 'यह इसका पिता है और यह इसका पुत्र है' इस प्रकार उसे केवल स्पष्ट किया जाता है, यही स्थिति शब्दार्थ सम्बन्ध की है।

इस विषय में वैयाकरणों का मत अधिक महत्त्वपूर्ण है। प्राचीन वैयाकरण व्यादि ने अपने 'संग्रह' नामक ग्रन्थ में कहा है–

सम्बन्धस्य न कर्तास्ति शब्दानां लोकवेदयो:।
शब्दैरेव हि शब्दानां सम्बन्ध: स्यात् कृत: कथम्॥

अर्थात् वेद और लोक की भाषा में शब्दार्थ का सम्बन्ध स्थापित करने वाला कोई नहीं है। शब्दों द्वारा शब्दों का सम्बन्ध कैसे स्थापित किया जा सकता है?

इस विषय में पतञ्जलि का कथन भी महत्त्वपूर्ण है। वे कहते है–"किं स्वाभाविकं शब्दैरर्थाविधानम् आहोस्वित् वाचनिकम्? स्वाभाविकम् इत्याह। अर्थ-अनादेशात्।" अर्थात् चूंकि आदिकाल से किसी वैयाकरण अथवा किसी दूसरे विद्वान् ने शब्दों के अर्थ का निर्धारण नहीं किया है इसलिए शब्दार्थ सम्बन्ध स्वाभाविक है।

परन्तु शब्दार्थसम्बन्ध को लेकर सम्भवत: सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण मान्यता प्रसिद्ध वैयाकरण कात्यायन की है। उन्होंने पाणिनीय व्याकरण पर वार्तिक पाठ लिखते हुए प्रारम्भ में ही मंगलाचरण के रूप में कहा है–"सिद्धे शब्दार्थ सम्बन्धे।" अर्थात् शब्द और अर्थ का सम्बन्ध नित्य माना गया है। ऊपर यूनानी विद्वान् हिरैक्लिट्स का और मीमांसक जैमिनी का नित्यत्व सिद्धान्त बता आए हैं। प्रश्न उठता है कि यह नित्य सम्बन्ध क्या होता है? इसका पहला उत्तर यह हो सकता है कि जिस शब्द का जो अर्थ है उसका आपस में सम्बन्ध शाश्वत है? जैसे-पट: का अर्थ है कपड़ा। इसलिए पट और कपड़ा का आपस में सम्बन्ध नित्य है और हमेशा से पट का अर्थ कपड़ा रहा है और भविष्य में भी रहेगा। परन्तु हम जानते हैं कि यह स्थिति अवास्तविक है। किसी शब्द का कोई अर्थ सदा एक सा नहीं रहता। इसी पाठ में आगे अर्थपरिवर्तन के कारणों और दिशाओं का विवेचन किया जायेगा जिससे स्पष्ट हो जाएगा कि शब्दों के अर्थ परिवर्तनशील हैं वे सदा एक से नहीं रहते। इसलिए 'सिद्धे' का यह 'नित्य' अर्थ नहीं हो सकता। इसका केवल यही अर्थ हो सकता है कि शब्द का अर्थ के साथ सम्बन्ध नित्य रहेगा अर्थात् प्रत्येक शब्द का कोई न कोई अर्थ प्रत्येक काल में अपने आप ही स्वाभाविक रूप से रहेगा।

3. अर्थपरिवर्तन के कारण

परिवर्तनशीलता भाषा की सबसे बड़ी विशेषता है। भाषा का रूप कभी एक सा नहीं रहता। मनुष्य अपनी इच्छा के अनुसार भाषा में परिवर्तन करता रहता है। चूँकि ध्वनि, अर्थ, पद और वाक्य भाषा के गठक तत्त्व है इसलिए भाषा में होने वाले परिवर्तन का तात्पर्य इन्हीं चार गठक तत्त्वों में निरन्तर होते रहने वाले परिवर्तनों से है। पिछले पाठों (सं. 5,6) में ध्वनि परिवर्तन के कारणों और परिवर्तन की दिशाओं का सोदाहरण विवेचन किया गया है। अब इस पाठ में अर्थ परिवर्तन के कारणों और दिशाओं का विवेचन किया जायेगा। इससे पहले कि अर्थ परिवर्तन के कारणों का विवेचन किया जाये कुछ उदाहरणों की सहायता से अर्थपरिवर्तन-को लेकर कुछ प्रारम्भिक जानकारी दी जा रही है।

जिस प्रकार भाषा के अन्य गठक तत्त्वों में परिवर्तन होता है उसी प्रकार अर्थ में भी परिवर्तन होता है। दो तीन उदाहरणों की सहायता से इसे समझना सरल होगा। संस्कृत में एक शब्द है 'मृग'। आजकल इसका अर्थ किया जाता है 'हिरण'। पर प्रारम्भ में इसका अर्थ था 'पशु' अर्थात् जो 'मृग' शब्द पहले पशुमात्र के लिए प्रयोग में आता था अब वह केवल एक पशु विशेष के अर्थ में प्रयुक्त होता है। परन्तु 'मृगेन्द्र' शब्द में यह शब्द अब भी सभी पशुओं के अर्थ में सुरक्षित हैं क्योंकि 'मृगेन्द्र' अर्थात् शेर सभी पशुओं का राजा होता है, वह केवल हिरणों का राजा नहीं होता। इसी प्रकार एक शब्द है 'तैल'। प्रारम्भ में इसका अर्थ केवल तिलों के तेल से ही था परन्तु आज इसका प्रयोग हर प्रकार के तेल के लिए किया जाता है, यहां तक कि मछली का तेल भी इसी शब्द द्वारा द्योतित होता है। इसी प्रकार संस्कृत का एक शब्द है 'साहस'। प्राचीन संस्कृत में इस का प्रयोग

बुरे कामों जैसे चोरी, डकैती, हत्या आदि के प्रसंग में होता था, पर आज हर महान् कार्य को सम्पन्न करने के सन्दर्भ में इसका प्रयोग होता है।

इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि भाषा में शब्दों के अर्थ सदा एक से नहीं रहते। उनमें परिवर्तन आता रहता है। अब प्रश्न उठता है कि यह परिवर्तन क्यों आता है? इसका कोई एक कारण नहीं है। भाषाई, सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक, प्राकृतिक, साहित्यिक, न जाने कितने प्रकार के कारण होते हैं जो भाषा में शब्दों के अर्थ परिवर्तन को प्रभावित करते हैं। यहां ऐसे ही कुछ कारणों का विवेचन किया जायेगा। भाषाविज्ञान में केवल उन्ही कारणों का उल्लेख होता है जिनका उसमें भली प्रकार से विवेचन किया जा सकता है। अन्यथा अनेक सूक्ष्म-परोक्ष कारण अर्थ परिवर्तन को प्रभावित करते रहते हैं जिन पर कभी विचार नहीं किया जाता।

अर्थ-परिवर्तन को प्रभावित करने वाले कुछ महत्त्वपूर्ण कारण हैं:-

1. **बल का अपसरण**–कई बार ऐसा होता है कि हम प्राय: शब्द के एक अर्थ पर अधिक बल देते हैं और दूसरे पक्ष को उतना महत्त्व नहीं देते। इसका परिणाम यह होता है कि जिस पक्ष पर कम बल देते हैं वह पक्ष समाप्त होता जाता है और जिस पर अधिक बल देते हैं वह उभर आता है और अन्ततोगत्वा उस शब्द का अर्थ बिल्कुल ही बदल जाता है। उदाहरणतया 'गोस्वामी' शब्द के इतिहास को ही देखें तो पायेंगे कि प्राचीन काल में जिसके पास जितना अधिक गउएं होंती थीं वह उतना ही अधिक धनाढ्य माना जाता था इसलिए गोस्वामी शब्द का अर्थ धीरे-धीरे गउओं का मालिक होने के बजाए धनाढ्य हो गया। क्रमश: समाज में गाय की सेवा को बहुत बड़ा पुण्य का काम माना जाने लगा। इस प्रकार गोस्वामी शब्द प्राय: उन प्रतिष्ठित पुरुषों के लिए प्रयुक्त होने लगा जिनकी छवि धर्मात्मा और पुण्यात्मा की हो। दो अलग-अलग कालखण्डों में हुए बल के अपसरण से गोस्वामी शब्द का अर्थ बिल्कुल बदल गया। अरबी का गुलाम शब्द प्रारम्भ में किसी भी नौकर के लिए प्रयोग में आता था। पर चूंकि नौकर प्राय: बन्द रख जाते थे कि कहीं वे भाग न जाएं इसलिए इस शब्द का अर्थ धीरे-धीरे दास के अर्थ में प्रयुक्त होने लगा। संस्कृत का जुगुप्सा शब्द इसी बल के अपसरण के कारण अर्थपरिवर्तन का भागी हुआ। मूल रूप से जुगुप्सा शब्द का अर्थ था रक्षा करना, परन्तु धीरे-धीरे इसमें सुरक्षा के स्थान पर छिपाने की इच्छा का भाव आने लगा और स्थिति यह हो गई कि जुगुप्सा का अर्थ घृणा हो गया।

2. **भौगोलिक वातावरण**–भौगोलिक वातावरण में परिवर्तन आ जाने से कई बार शब्दों के अर्थ में परिवर्तन आ जाते हैं। जब एक प्रकार के भौगोलिक वातावरण के अभ्यस्त लोग किसी दूसरे प्रकार के भौगोलिक वातावरण में आ जाते हैं तो वे अपने साथ कई पुराने शब्दों को ले जाते हैं जो नए स्थान के पदार्थों के लिए प्रयुक्त होने लग जाते हैं और इस प्रकार भाषा का अर्थ बदल जाता है। उदाहरणतया वेदकालीन आर्य जब जलीय और आर्द्र भौगोलिक वातावरण में रहा करते थे तो वे एक विशेष प्रकार के जंगली बैल को उष्ट्र कहा करते थे। पर जब वे आर्य मरुभूमि में पहुंचे तो उन्होंने वहां बहुतायत से मिलने वाले ऊँट को उष्ट्र कह दिया और इस प्रकार उष्ट्र शब्द के अर्थ में परिवर्तन आ गया। ठीक इसी प्रकार इंग्लैंड में गेहूं को 'कॉर्न' कहने के अभ्यस्त अंग्रेज जब स्काटलैण्ड गए तो वहां के बाजरे को और अमेरिका जाने पर वहां बहुतायत से पैदा होने वाले मक्के को कॉर्न कहने लगे। भारत में अनेक स्थानों पर बहने वाली विभिन्न नदियों को गंगा कहने का प्रचलन है। काश्मीर की ऐसी दो नदियों को बानगंगा और दुग्धगंगा कहते हैं।

3. **सामाजिक वातावरण**–कई बार ऐसा होता है कि सामाजिक वातावरण में परिवर्तन आ जाने से भी एक ही शब्द का अर्थ बदल जाता है। कई बार यह अर्थ कई सदियों बाद बदलता है तो कई बार यह परिवर्तन एक ही समय में एक साथ मिलने वाले पृथक् सामाजिक परिवर्तन के सन्दर्भ में मिल जाता है। उदाहरणतया, आज हम जिस अर्थ में आकाशवाणी शब्द का प्रयोग करते हैं वह उससे पृथक् है जिसमें उसका प्रयोग प्राचीन काल में होता था। इसे सांस्कृतिक उत्थान-पतन या सांस्कृतिक पुनर्जागरण से होने वाले सामाजिक वातावरण में परिवर्तन भी मान सकते हैं। कई बार एक ही समय में पृथक् सामाजिक वातावरण में प्रयुक्त एक ही शब्द अनेक अर्थ देता है। जैसे–अंग्रेजी भाषा के शब्द 'सिस्टर' का अर्थ घर में तो कुछ और है और अस्पताल में कुछ और होता है। इसी प्रकार अंग्रेजी शब्द 'फादर' का अर्थ घर में और गिरिजाघर में अलग-अलग होता है। हिन्दी भाषा में ऐसे अनेक शब्द हैं। जैसे–भैया शब्द सामान्यत: भाई के लिए प्रयोग में आता है पर सामाजिक व्यवहार में हम किसी को भी शिष्ट सम्बोधन के नाते भैया कह देते है। उत्तर प्रदेश में तो कुछ क्षेत्रों में पुत्र को भी भैया कहने का चलन है। इसी प्रकार हिन्दी का 'ताऊ' शब्द परिवार में पिता के बड़े भाई के लिए प्रयुक्त होता है किन्तु हरियाणा में अब यह हर छोटे बड़े के लिए प्रयोग में

लाया जाता है और संस्कृत के 'तात' शब्द के आसपास पहुंच गया है। ठीक इसी प्रकार खेत में 'कलम' का अर्थ कुछ और है, बच्चों की क्लास में इसका अर्थ कुछ और है तथा नाई की दुकान पर इसका कुछ और ही अर्थ है।

4. रीतिरिवाजों का प्रभाव–कई बार समाज में कुछ प्रथाओं, रीतिरिवाजों और संस्कारों के प्रचलन में परिवर्तन आ जाने से शब्दों के अर्थ बदल जाते हैं। प्रथाएं बदल जाती हैं या समाप्त हो जाती हैं पर शब्द यदि बने रहते हैं तो उनका अर्थ वह रह ही नहीं सकता जो पहले था। उसमें परिवर्तन आ जाना स्वाभाविक ही होता है। उदाहरणतया, प्राचीन काल में यज्ञ से सम्बद्ध दो शब्दों का प्रयोग होता था- पुरोहित और यजमान। पहले ये दो शब्द केवल यज्ञ के समय ही प्रयोग में लाए जाते थे परन्तु अब ये यज्ञ लगभग बन्द हो गए हैं और दोनों शब्दों का प्रयोग चल रहा है तो उनका अर्थ बदला जाना स्वाभाविक ही है। अब हर ब्राह्मण पुरोहित है और हर दूसरा व्यक्ति यजमान है। गांवों में और शहरों में ब्राह्मण और जमादारों ने अपने-अपने 'यजमान' बांट रखे होते हैं। नाई लोग यजमान शब्द का प्रयोग उस अर्थ में करते हैं जिस अर्थ में वकील लोग 'क्लांइट' का करते हैं।

5. भाषा की यात्रा–जब शब्द एक भाषा से दूसरी भाषा में जाते हैं तो अपनी इस भाषा की यात्रा में वे अर्थ को काफी कुछ बदल देते हैं। एक ही भाषा के दो नितान्त विभिन्न रूपों की यात्रा में भी यह अर्थपरिवर्तन दृष्टिगोचर होता है। जैसे–वैदिक संस्कृत में 'असुर' शब्द का अर्थ देवता है–'पर्जन्यः असुरः पिता नः' 'इन्द्रः असुरः पिता नः', इत्यादि। यहां असुर शब्द का वही अर्थ है जो अवेस्ता में अहुर या अहुरमज़्दा का है। पर लौकिक संस्कृत तक आते आते असुर शब्द का अर्थ बदलकर 'राक्षस' हो गया है। अंग्रेजी के अनेक शब्दों ने हिन्दी या अन्य भारतीय भाषाओं में अपनी यात्रा के कारण अपने अर्थ बदल दिए हैं। जैसे अंग्रेज़ी का 'कोट' शब्द वहां कई प्रकार के अर्थ देता है और सामान्य रूप से हर पहनावे, आवरण एवं 'बोलने' के लिए प्रयुक्त होता है, पर हिन्दी में उसका एक ही अर्थ है–पहनने का एक विशेष प्रकार का ऊपरी कपड़ा। इसी प्रकार अंग्रेजी का 'कौलर' शब्द जहां एक विशेष प्रकार की हड्डी के कारण कई समानार्थक भावों को इंगित करता है वहां हिन्दी में उसका प्रयोग अब केवल कमीज़ या कोट के कॉलर के लिए ही होता है। अंग्रेजी का ग्लास शब्द हर तरह के शीशे के लिए प्रयुक्त होता है वहां हिन्दी का 'गिलास' एक विशेष प्रकार के बर्तन के लिए प्रयोग में लाया जाता है।

6. कटुता या भयंकरता को सहज बनाना–मानवस्वभाव की यह प्रवृत्ति है कि वह भयंकर या कटु वस्तुओं को उनके उसी रूप में ग्रहण करने से घबराता है या झिझकता है और उनके लिए वह सुन्दर या सरल अभिव्यक्ति का प्रयोग करना चाहता है। इससे भाषा के शब्दार्थ में व्यापक परिवर्तन आ जाते हैं। इसे चाहें तो अशोभन के लिए शोभन का प्रयोग भी कह सकते हैं। उदाहरणतया, मृत्यु एक ऐसी भयंकर परिस्थिति है जिसका वर्णन कोई भी नहीं करना चाहता इसलिए संस्कृत में उसे 'पंचत्व', 'स्वर्गवास' या 'देहावसान' कहा जाता है। पंजाबी में इसके लिए "पूरा होना" शब्द का प्रयोग मिलता है। स्पष्ट है कि इन सभी अभिव्यक्तियों में 'देहावसान' शब्द को छोड़कर कोई भी दूसरा शब्द मरने का अर्थ नहीं दे पा रहा। किन्तु समाज में 'मृत्यु' शब्द का प्रयोग करने से बचने के लिए उसका अर्थ देने वाली विभिन्न अभिव्यक्तियों का आश्रय ले लिया गया है। यमराज को धर्मराज कहना इसी प्रवृत्ति का परिणाम है। इसी प्रकार चेचक जैसे भयंकर रोग को, जिससे अन्धत्व या मृत्यु तक प्राप्त हो सकते हैं चेचक न कहकर 'माता' कहा जाता है और एक धार्मिक नाम की आड़ में इसकी भयंकरता को भुला देने का प्रयास किया जाता है। गांवों में लोगों को प्रायः सांप काट लेते हैं जिससे कई बार जहर चढ़ जाने से मृत्यु भी हो जाती है। इसलिए सांप काटने की भयंकरता को भुलाने के लिए उसके लिए 'सांप सूंघना' शब्द का प्रयोग किया जाता है।

7. अश्लीलता–हर समाज सभ्यता के अपने मानदण्ड अलग-अलग बनाता है और श्लील-अश्लील के बारे में उसका सोच अपना होता है उदाहरणतया, हिन्दी फिल्मों में आजकल नारी शरीर का दर्शन जिस सीमा तक कराया जाता है आज से पच्चीस तीस साल पहले वह अश्लीलता की कोटि में आया करता था। परन्तु मानव समाज के हर वर्ग की यह समान चेष्टा रहती है कि वह अश्लील अभिव्यक्तियों का प्रयोग इस प्रकार से करें कि बात भी कह दी जाए और असभ्यता का प्रदर्शन भी न हो। इस सामाजिक प्रक्रिया में अश्लीलता को अभिव्यक्त करने के लिए कई बार शब्दों के अर्थ बदल दिए जाते है। जैसे गांवों में, नदी जाना, दिशा जाना, मैदान जाना, पोखर जाना किसी भी हिसाब से पाखाना जाना का अर्थ सम्प्रेषित नहीं करते किन्तु पाखाना को अश्लील मानने वाले हमारे समाज ने इन शब्दों का भिन्न अर्थ में प्रयोग करने की परम्परा बना दी है। अंग्रेजी में इसे 'टॉएलेट' और आधुनिक हिन्दी में इसे 'प्रसाधन' कहने की परम्परा चल पड़ी है। कामशास्त्र और यौन सम्बन्धों से जुड़े हुए सभी शब्दों को हम सीधे न कह कर घुमाफिरा कर या अलग अर्थ देने वाले शब्दों में कहना चाहते हैं। हिन्दी में 'सुहागरात' और अंग्रेजी में 'हनीमून' शब्द का प्रयोग इसी भावना या दृष्टिकोण का परिचायक है। पर इसके कारण शब्दों को वे अर्थ मिल जाते हैं जो वास्तव में उनके अर्थ नहीं होते। इससे अर्थपरिवर्तन की गति में शीघ्रता आती है।

8. अधिक के लिए एक शब्द का प्रयोग–मनुष्य सरलता प्रेमी और सुविधा भोगी है। वह कठिनाई से हमेशा बचना चाहता है। भाषा की परिवर्तनशीलता और ध्वनिपरिवर्तन के कारणों का विवेचन करते समय इस पर काफी कुछ कहा गया है। अर्थ परिवर्तन में भी मानव की इस सहज प्रवृत्ति का बहुत बड़ा प्रभाव पड़ता है। यदि एक ही अर्थ को बताने के लिए दो पृथक् अर्थ देने वाले शब्दों का प्रयोग एक साथ हो रहा हो तो मनुष्य एक शब्द का प्रयोग करता है और पूरे अर्थ को संकेतित करता है। अंग्रेजी में 'नेकटाई' का प्रयोग गले में बांधे जाने वाले कपड़े के लिए होता है जिसमें दो शब्द हैं 'नेक' और 'टाई' जिनके अर्थ हैं क्रमश: गला और बांधना। पर अब केवल 'टाई' का प्रयोग कर दोनों शब्दों के अर्थों को प्राप्त कर लिया जाता है और इस तरह से 'टाई' का अर्थ बदल गया है। 'कैपिटल सिटी' के लिए कैपिटल 'हस्तीमृग' के लिए केवल हस्ती 'मेटरनल अंकल' के लिए केवल 'अंकल' 'पोस्टल स्टैम्प' के लिए सिर्फ 'स्टैम्प' का प्रयोग सरलता की इसी प्रवृत्ति का परिणाम माना जा सकता है जिसमें एक ही शब्द एक से अधिक शब्दों के अर्थ को सम्प्रेषित करता है और इस प्रकार अपने अर्थ को बदल देता है।

9. सादृश्य–ध्वनिपरिवर्तनों का विवेचन करते समय सादृश्य पर विस्तार से बताया गया है। वास्तविकता यह है कि सादृश्य ध्वनिपरिवर्तन के महत्त्वपूर्ण कारणों में से एक है। प्रश्न उठता है कि क्या सादृश्य के कारण अर्थपरिवर्तन भी होता है? इसका उत्तर देना सरल नहीं है। कुछ भाषाविदों का यह कहना कि सादृश्य से केवल ध्वनिपरिवर्तन ही सम्भव है, अर्थ परिवर्तन उसके कारण नहीं होता ठीक नहीं है इसे अतिवादी दृष्टिकोण माना जाएगा। हां, इतना अवश्य कहा जा सकता है कि ध्वनिपरिवर्तन को लाने में सादृश्य का जो प्रभाव होता है, अर्थपरिवर्तन करने में उसका उतना योगदान नहीं रहता। इसका कारण भी स्पष्ट है। दो ध्वनियों में समानता हो सकती है, किन्तु दो अर्थों में समानता की सम्भावनाएं बहुत कम रहती हैं। किन्तु फिर भी सादृश्य के कारण कुछ अर्थपरिवर्तन होता ही है। पर उस परिवर्तन में भी ध्वनि-सम्बन्धी सादृश्य परोक्ष रूप से प्रभाव डाल रहा होता है। जैसे, संस्कृत में दो शब्द हैं–प्रश्रय और आश्रय। प्रश्रय का अर्थ है विनम्रता और आश्रय का अर्थ है सहारा। इन दोनों शब्दों में प्रारम्भ के उपसर्ग प्र और आ को छोड़कर शेष भाग में पूर्ण ध्वनिसाम्य है। इसके परिणामस्वरूप दोनों में अर्थसादृश्य भी उत्पन्न हो गया है। इसी कारण अब प्रश्रय का प्रयोग 'विनम्रता' के अर्थ में समाप्त होता जा रहा है और 'सहारा' के अर्थ में बढ़ता जा रहा है।

10. पुनरावृत्ति–ऊपर अधिक शब्दों के स्थान पर एक ही शब्द प्रयोग से पूरा अर्थ प्राप्त करने की प्रवृत्ति के बारे में कुछ कहा गया था और इसका कारण सरलता बताया गया था। उसी सरलता के दर्शन इससे विपरीत दिशा में भी होते हैं जहां एक ही अर्थ देने वाले अनेक शब्दों का एक साथ प्रयोग कर दिया जाता है। इसके हर भाषा में अनेक उदाहरण मिल जाते हैं। उदाहरणतया, हम प्राय: 'सज्जन पुरुष' या 'सज्जन व्यक्ति' का बहुत ही सहज ढंग से प्रयोग करते हैं और भूले जाते हैं कि पुरुष और व्यक्ति शब्द सज्जन के 'जन' के अर्थ की पुनरावृत्ति मात्र है। इसी प्रकार विन्ध्याचल पर्वत में 'अचल और पर्वत' शब्द समानार्थक हैं और इनकी इस शब्द में मात्र पुनरावृत्ति हुई है। मलयालम भाषा में तो और भी विचित्र उदाहरण है। वहां मलय का अर्थ है–पर्वत और 'मलयाचल पर्वत' इस शब्द में एक ही अर्थ को द्योतित करने वाले तीन शब्दों का एक साथ प्रयोग हुआ है। ऐसे उदाहरणों में स्पष्ट ही है कि एक ही अर्थ द्योतित करने वाले अनेक शब्दों में से एक को छोड़कर शेष की पुनरावृत्ति भिन्नार्थक या निरर्थक मान कर ही की जाती होगी।

11. अज्ञान–भाषा में अर्थपरिवर्तन लाने का यह एक बहुत बड़ा कारण है। कई बार हम शब्दों का प्रयोग केवल अनुमान के आधार पर कर देते हैं जिसमें वास्तव में हमारा अज्ञान ही प्रकट होता है। पर इस कारण से शब्दों के अर्थ में या तो परिवर्तन आ जाता है या वे शब्द निरर्थक हो जाते हैं। 'बेमतलब' की तरह कई बार हम व्यर्थ के अर्थ में 'बेफजूल' शब्द का प्रयोग करते हैं ज़बकि बेफजूल का अर्थ वास्तव में 'व्यर्थ' से विपरीत 'सार्थक' होता है। इसी प्रकार कुछ भाषाओं में खालिस के लिए निखालिस और गुजराती में जरूर के लिए जरूरत शब्द का प्रयोग इसी कोटि का है। जैसा कि बेफजूल के उदाहरण के स्पष्ट ज्ञात हो रहा है, अज्ञान के कारण होने वाले अर्थपरिवर्तनों में कई बार सादृश्य का भी प्रभाव रहता है। अर्थात् कई बार सादृश्य के प्रभाव के परिणामस्वरूप अनजाने में ही लोग शब्दों का अर्थ न समझ कर केवल अनुमान या सादृश्यजनक अभ्यास के कारण अर्थ को बदल डालते हैं, अर्थ का अनर्थ कर देते हैं या शब्दों का निरर्थक प्रयोग करते रहते हैं।

12. साहचर्य–संस्कृत काव्यशास्त्र में और दर्शनशास्त्र में भाषा के सभी पक्षों पर गहन विचार किया गया है। अर्थ की प्राप्ति में सहायक तत्त्व कौन-कौन से होते हैं इसका विचार भी वहां है। इन अनेक तत्त्वों में 'साहचर्य' नामक तत्त्व का विश्लेषण अर्थपरिवर्तन के एक कारण के रूप में कर सकते हैं। लोकाचार में प्राय: ऐसा होता है कि शब्द का कोई एक अर्थ रूढ़ हो जाता है। पर

उस अर्थ में परिवर्तन तब होता है जब उस शब्द का प्रयोग किसी अन्य शब्द या परिस्थिति के साहचर्य या सन्दर्भ में किया जाए। जैसे–'राम' शब्द दशरथपुत्र के लिए ही लोक में प्रसिद्ध है। पर इसका प्रयोग यदि परशु (परशुराम), बल (बलराम) जैसे शब्दों के साहचर्य में किया जाए तो इसका पूरा अर्थ ही बदल जाता है। इसी प्रकार अर्जुन का तात्पर्य पांच पाण्डवों में से एक के लिए प्रसिद्ध है परन्तु जब उसका प्रयोग सहस्र (=सहस्रार्जुन) के साहचर्य में किया जाए तब अर्थ में परिवर्तन हो जाता है। संस्कृत में 'सैन्धव' शब्द घोड़े के लिए प्रसिद्ध है पर यदि भोजन के सन्दर्भ में इसका प्रयोग किया जाए तो वह नमक (=सेंधा नमक) का अर्थ देने लग जाता है।

13. **व्यंग्य**–भाषा में-चाहे वह साहित्यिक अभिव्यक्ति का माध्यम हो अथवा सामान्य बोलचाल का, व्यंग्य का बड़ा ही महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। सत्य यह है कि भाषा के अधिकांश मुहावरेदार प्रयोग इसी व्यंग्य बोध के कारण प्रारम्भ हो जाते हैं। व्यंग्य के कारण भाषा पर इतना प्रभाव पड़ता है कि उसमें शब्द अपना अर्थ छोड़कर किसी और ही अर्थ की अभिव्यक्ति देने लग जाते हैं। जब किसी आदमी को गधा या बैल कहा जाता है तो निश्चित रूप से वहां गधा और बैल का वह अर्थ नहीं होता जो बोलचाल में होता है अथवा जो उसका शाब्दिक अर्थ है। व्यंग्य में जब हम शत्रु से कहते हैं कि 'आपका हम पर बड़ा उपकार है, बड़ी कृपा है' तो वहां उपकार और कृपा शब्दों का वह अर्थ नहीं होता जो सामान्य बोलचाल में होता है। यहां तक कि व्यंग्यात्मक प्रयोगों में युधिष्ठिर, हरिश्चन्द्र, धर्मराज शब्दों का प्रयोग झूठ बोलने वाले के लिए होता है जबकि इनका वास्तव में यह अर्थ नहीं है।

इस प्रकार अनेक कारण गिनवाए जा सकते हैं जो शब्दों के अर्थ परिवर्तन को प्रभावित करते हैं। इन कुछ प्रमुख कारणों के साथ-साथ लाक्षणिक प्रयोग, आलंकारिक प्रयोग, नम्रता प्रदर्शन जैसे कुछ और कारण भी गिनवाए जा सकते हैं।

4. अर्थपरिवर्तन की दिशाएं

अर्थपरिवर्तन के कारणों का विवेचन करने के बाद प्रश्न उठता है कि अर्थपरिवर्तन की दिशाएं कौन सी हैं? पिछले पाठ में ध्वनिपरिवर्तन की दिशाओं का विस्तार से विवेचन किया गया है। इसलिए हमें इस बात का भलीभांति आभास है कि परिवर्तन की दिशा से क्या तात्पर्य होता है। संक्षेप में कहा जाए तो कह सकते हैं कि अर्थ परिवर्तन की दिशा उसे कहते हैं जहां यह बताया जाए कि किसी शब्द का अर्थ किस तरह से बदला है।

अमेरिकन भाषाविज्ञान के जनक माने जाने वाले विद्वान ब्लूमफील्ड ने अर्थपरिवर्तन की सात दिशाओं का उल्लेख किया है जो इस प्रकार हैं :

1. अर्थसंकोच=Narrowing
2. अर्थविस्तार=Widening
3. अर्थादेश=Metaphor or Analogy
4. गुरुतर से निर्बल अर्थ की ओर जाना=Hyperbole
5. निर्बल से गुरुतर अर्थ की ओर जाना=Litotes
6. अर्थापकर्ष=Degeneration
7. अर्थोत्कर्ष=Elevation

आधुनिक काल में भाषावैज्ञानिकों ने जब भी अर्थपरिवर्तन की दिशाओं का विवेचन किया है वह ब्लूमफील्ड के इस सप्तविध वर्गीकरण के आसपास ही घूमता रहा है। अर्थविज्ञान पर सबसे अधिक गहन विचार करने वाले पाश्चात्य भाषावैज्ञानिक ब्रील ने अर्थपरिवर्तन की केवल तीन दिशाएं ही स्वीकार की हैं–अर्थविस्तार, अर्थसंकोच और अर्थादेश। भाषावैज्ञानिकों के बीच प्राय: अर्थपरिवर्तन की इन तीन दिशाओं को ही मान्यता मिली है। परन्तु कुछ विद्वान् इन तीन दिशाओं के अतिरिक्त दो अन्य दिशाओं को भी मानने पर बल देते हैं। इस प्रकार अर्थपरिवर्तन की पांच दिशाएं मानी जाती हैं जो निम्नलिखित हैं:–

1. अर्थविस्तार=Expansion of Meaning
2. अर्थसंकोच=Contraction of Meaning
3. अर्थादेश=Transference of Meaning
4. अर्थोत्कर्ष=Elevation of Meaning
5. अर्थापकर्ष=Degeneration of Meaning

अब उदाहरणों के आधार पर अर्थपरिवर्तन की इन पांचों दिशाओं का विवेचन किया जायेगा।

अर्थविस्तार–यदि किसी शब्द का अर्थ पहले किसी एक विशेष पदार्थ या परिस्थिति तक ही सीमित हो और बाद में उसका अर्थ बहुत फैली हुई परिधि में प्रयुक्त होने लग जाए तो उसे अर्थविस्तार कहते हैं। प्रश्न यह उठ सकता है कि अर्थविस्तार क्यों होता है? हम अपने दैनंदिन व्यवहार में जिस भाषा का प्रयोग करते हैं उस भाषा की अपनी कुछ सीमाएं होती हैं। इस संसार में पदार्थ अनन्त हैं। परन्तु उन पदार्थों को अभिव्यक्त करने के लिए हमारे पास एक ही माध्यम है जिसे हम भाषा कहते हैं और उस भाषा की सीमाएं भी स्पष्ट हैं। सीमित भाषा का आश्रय लेकर जब हम असीमित जगत् को अभिव्यक्त करने लगते हैं तो स्वाभाविक रूप से भाषा के एक शब्द से हम अनेक पदार्थों को समझ लेना चाहते हैं। इसी से भाषा में शब्दों के अर्थविस्तार की दिशा अपने आप ही बन जाती है। भाषा में अनेकों उदाहरण ऐसे हैं जिनमें अर्थविस्तार की दिशा के स्पष्ट दर्शन होते हैं। पहले कोई एक शब्द किसी एक ही सीमित अर्थ में प्रयुक्त होता है, पर धीरे-धीरे उसके अर्थ की सीमा बढ़ती जाती है और इस प्रकार अर्थविस्तार हो जाता है।

अर्थविस्तार का सबसे अच्छा उदाहरण है 'तैल'। तैल शब्द मूलत: तिलों से निकलने वाले तेल के लिए प्रयोग में आता था। अर्थात् प्रारम्भ में तेल शब्द तिलों के तेल के अर्थ तक सीमित था। परन्तु अब हर प्रकार के तेल के लिए इस का प्रयोग होता है फिर चाहे वह तेल आंवले का हो, नारियल का हो, मूंगफली का हो, सोयाबीन का हो, सरसों का हो या मछली का हो। अर्थात् तैल शब्द का अर्थविस्तार हो गया है। 'प्रवीण' शब्द पहले उस व्यक्ति के लिए प्रयोग में आता था जो वीणा बजाने में कुशल हो–'प्रवीणो वीणायाम्।' परन्तु अब प्रवीण का अर्थविस्तार हो गया है और उसका अर्थ हो गया है कुशल फिर चाहे वह व्यक्ति वीणा बजाने में ही क्या किसी भी काम में कुशल हो। निपुण शब्द का अर्थ पहले था पुण्यों का संचय करने वाला पुण्यात्मा व्यक्ति। परन्तु अब इसका अर्थ प्रवीण की तरह कुशल हो गया है और हर काम में कुशल व्यक्ति निपुण माना जाता है फिर चाहे वह चोरी करने में ही कुशल क्यों न हो। कुशल शब्द का प्रयोग प्रारम्भ में उस व्यक्ति विशेष के लिए होता था जो 'कुशा' नामक घास तोड़ने में समर्थ हो। कुशा नामक घास बहुत ही तीक्ष्ण होती है जिसे तोड़ने वाले के हाथों में खून प्राय: निकल ही आता है। परन्तु जो व्यक्ति उस घास को बिना हाथ को एक बार भी घायल किए तोड़ ले उसके लिए कुशल शब्द का प्रयोग होता था। परन्तु अब इस शब्द का अर्थविस्तार हो गया है और केवल घास तोड़ने में नहीं; किसी भी काम में कुशल व्यक्ति 'कुशल' कहा जाता है। 'अभ्यास' पहले बाण फेंकने के अभ्यास के लिए प्रयुक्त होता था, परन्तु अब हर प्रकार के अभ्यास के लिए इसका प्रयोग होता है। गवेषणा पहले सिर्फ गाय की खोज के लिए प्रयोग में आता था किन्तु अब हर प्रकार के शोध और अनुसन्धान के लिए प्रयोग में लाया जाता है। कितनी विचित्र बात है कि भाषावैज्ञानिक रकर कहते हैं कि अर्थविस्तार होता ही नहीं; वास्तव में अर्थादेश होता है जिसके एक पक्ष को हम अर्थविस्तार कह देते हैं। पर ऊपर के उदाहरणों से स्पष्ट है कि भाषा में अर्थविस्तार निश्चित रूप से होता है।

2. अर्थसंकोच–अर्थसंकोच अर्थविस्तार से एकदम विपरीत है। जहां अर्थविस्तार में पहले सीमित अर्थ में प्रयुक्त होने वाले शब्द का अर्थविस्तार हो जाता है वहां अर्थ-संकोच उन उदाहरणों में माना जाता है जहां पहले किसी शब्द का अर्थ बहुत विस्तृत परिधि में हो किन्तु बाद में वह परिधि सीमित हो जाए। अर्थसंकोच क्यों होता है? इसका उत्तर ब्रील ने इस प्रकार दिया है कि जब किसी समाज की सभ्यता और संस्कृति का बहुत अधिक विकास हो जाता है तो उस समाज में विशेषता की प्रवृत्ति पनपनी प्रारम्भ हो जाती है। उसके परिणामस्वरूप जहां एक शब्द कभी सामान्यत: विस्तृत अर्थ में प्रयुक्त होता था वहां उसका संकोच एक या दो अर्थों में होना प्रारम्भ हो जाता है। अर्थसंकोच का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है 'मृग' शब्द। प्राचीन संस्कृत में मृग का अर्थ है पशुमात्र। आज भी 'मृगेन्द्र' शब्द में मृग का यह अर्थ सुरक्षित है। संस्कृत के ही एक और शब्द 'मृगया' में भी यह अर्थ प्राप्त होता है। परन्तु बाद में इसका अर्थ संकुचित होकर केवल 'हिरण' को ही बताने लगा। फारसी का मुर्ग शब्द पहले पक्षिमात्र के लिए प्रयुक्त होता था। परन्तु अब इसका प्रयोग एक पक्षी विशेष के लिए ही होता है। सब्जी का प्रयोग पहले हर तरह की हरियाली के लिए होता था किन्तु अब इसका प्रयोग केवल हरी सब्जियों के लिए ही मानो सुरक्षित हो गया है। संस्कृत का जलज शब्द हर उस वस्तु का नामकरण था जो पानी से उत्पन्न होती है पर अब इसका अर्थ पानी से उत्पन्न होने वाले कमल के लिए होता है। ठीक इसी प्रकार कीचड़ से उत्पन्न होने वाली हर वस्तु का नाम पहले पंकज था पर अब पंकज का प्रयोग केवल कमल अर्थ में सीमित हो गया है। मन्दिर शब्द का प्रयोग पहले संस्कृत में हर तरह के मकान, भवन, घर या कमरे के लिए होता था पर अब मन्दिर का अर्थ केवल उसी स्थान के लिए होता है जहां किसी देवता की मूर्ति स्थापित हो या किसी

भी धर्म विशेष के अनुसार पूजा पाठ इत्यादि होता हो। भार्या का प्रयोग पहले हर उस स्त्री के लिए और भार्य का प्रयोग हर उस पुरुष के लिए होता था जिसका पालन पोषण किसी और के जिम्मे हो, परन्तु अब जहां भार्य शब्द का प्रचलन ही समाप्त हो गया है वहां भार्या शब्द का प्रयोग केवल पत्नी के लिए ही होता है।

3. अर्थादेश–अर्थविज्ञान में भावसाहचर्य का बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान है। भाषा का चरित्र ही ऐसाा है कि मानव मन की अपरिभाषित और अनन्त इच्छाओं और इस ब्रह्माण्ड के असंख्य पदार्थों और परिस्थितियों के लिए उसके पास पूरा शब्दभण्डार और अभिव्यक्ति प्रकार नहीं है। दूसरे शब्दों में, असीम की अभिव्यक्ति के लिए हमारे पास भाषा नामक जो माध्यम है वह बहुत ही सीमित है। इसका परिणाम यह होता है कि हम एक शब्द की सहायता से समान पृष्ठभूमि वाले अनेक पदार्थों और परिस्थितियों को बता देना चाहते हैं और इस प्रकार एक-एक शब्द के साथ अनेक भावों का साहचर्य हो जाता है। इसे भाषाविज्ञान में भावसाहचर्य कहते हैं। भावसाहचर्य के कारण एक ही शब्द के साथ अनेक अर्थ अथवा भाव एक साथ जुड़े रहते हैं और सन्दर्भ के अनुसार कभी एक अर्थ महत्त्वपूर्ण हो जाता है तो कभी दूसरा अर्थ महत्त्वपूर्ण हो जाता है इसे हम अर्थ पर बल का अपसरण या अर्थादेश कहते हैं।

अर्थादेश का परिणाम अर्थपरिवर्तन की दृष्टि से इस प्रकार होता है कि कई बार अर्थ पर बल के अपसरण के कारण एक अर्थ समाप्त हो जाता है और दूसरा अर्थ प्रचलित हो जाता है। कई भाषावैज्ञानिकों का ऐसा मानना है कि न अर्थविस्तार होता है और न ही अर्थसंकोच होता है। उनके अनुसार केवल अर्थादेश ही होता है। परन्तु जैसा कि हम ऊपर देख आए हैं भाषा में अर्थविस्तार के उदाहरण भी हैं और अर्थसंकोच के भी हैं। इनके अतिरिक्त भाषा में अर्थादेश भी होता है जिसके कुछ उदाहरणों की परीक्षा करना युक्तिसंगत रहेगा।

गंवार का अर्थ है वह व्यक्ति जो गांव में रहता हो। पर नगरों में रहने वालों को यह अहंकार होता है कि वे शहरों में रहने के कारण अधिक बुद्धिमान हैं और गांवों में रहने वाले लोग मूर्ख हैं। इसलिए गंवार शब्द के साथ 'गांव में रहने वाला' के साथ-साथ 'मूर्ख' अर्थ भी चलता रहा और धीरे-धीरे बल के अपसरण के कारण पहला अर्थ समाप्त होता जा रहा है और दूसरा अर्थ उभरता आ रहा है। इसी प्रकार शहरी का अर्थ है नगरवासी। पर गांव वाले स्वयं को भला और नगरवासियों को चालाक समझते हैं, इसलिए ग्रामीण क्षेत्रों में 'शहरी' का अर्थ 'नगरवासी' के बजाए 'चालाक' होता जा रहा है। संस्कृत में 'दुहिता' शब्द का अर्थ प्रारम्भ में प्रत्येक उस लड़की के लिए प्रयुक्त होता था जो दूध दुहती थी, पर चूंकि वैदिक भारतीय परिवारों में यह काम केवल घर की लड़कियां ही करती थी इसलिए दुहिता शब्द का अर्थ 'दूध दुहने वाली' के स्थान पर लड़की हो गया।

अर्थोत्कर्ष–वैसे तो परिवर्तन की सभी दिशाओं का समाहार उपुर्यक्त तीन दिशाओं में हो जाना चाहिए तथापि भाषावैज्ञानिकों ने अर्थोत्कर्ष और अर्थापकर्ष नामक दो अन्य दिशाओं का भी निर्धारण किया है। अर्थोत्कर्ष नामक अर्थपरिवर्तन की दिशा उसे कहते हैं जहां किसी शब्द का अर्थ पहले बहुत अच्छा न हो या खराब हो किन्तु बाद में वह काफी अच्छा और श्रेष्ठ हो गया हो। इस दिशा का सबसे अच्छा उदाहरण है–साहस। किसी समय यह शब्द बहुत ही निकृष्ट कार्यो का सूचक था। साहस किसे कहते थे, इसके उत्तर में निम्न श्लोक का अवलोकन पर्याप्त रहेगा–

मनुष्यमारणं चौर्यं परदाराभिमर्शनम्।
पारुष्यमुभयं चेति साहसं स्याच्चतुर्विधम्।

अर्थात् साहस के अन्तर्गत मुख्य रूप से चार बातें कही गई थीं–हत्या, डकैती, व्यभिचार और क्रूरता। पर अब इस शब्द का प्रयोग अच्छे काम के लिए किये गए साहस के लिए ही प्रयुक्त होता है और बुरे कामों के लिए दुःसाहस शब्द का प्रयोग होता है। 'कर्पर' शब्द पहले फटे पुराने कपड़े के लिए प्रयोग में लाया जाता था, परन्तु उसका हिन्दी रूपान्तर कपड़ा हर सुन्दर वस्त्र का परिचायक है।

अर्थापकर्ष–अर्थोत्कर्ष से विपरीत अर्थापकर्ष है। इसमें शब्दों का अर्थ बदल कर खराब हो जाता है जो पहले अच्छा था। जैसे–बौद्ध शब्द का प्रयोग पहले बौद्धमत को मानने वाले सन्यासियों के लिए होता था किन्तु उसका आधुनिक ध्वनिपरिवर्तन रूप 'बुद्धू' का प्रयोग अब मूर्ख के लिए होता है। 'जैन' शब्द पहले जैन मतानुयायी सन्यासियों के लिए था पर अब उसका ध्वनिरूपान्तरित शब्द 'जिन' इतने श्रेष्ठ अर्थ का बोध नहीं कराता। 'पुंगव' शब्द पहले श्रेष्ठ था, जैसे 'नरपुंगव' अर्थात् मनुष्यों में श्रेष्ठ। परन्तु उसका आधुनिक रूपान्तर 'पौंगा' शब्द मूर्खवाची हो गया है। 'वृषभ' शब्द का प्रयोग पहले श्रेष्ठ अर्थ में था पर अब वह केवल बैल का वाचक हो गया है।

पाठ-9

पदविज्ञान/रूपविज्ञान

–डॉ. सूर्यकान्त बाली

1. पद की परिभाषा

पिछले अध्यायों में भाषा के दो प्रमुख गठक तत्त्वों अर्थात् ध्वनि और अर्थ का विस्तृत और साङ्गोपाङ्ग विवेचन किया गया है। इसलिए अब भाषा के तीसरे गठक तत्त्व अर्थात् 'पद' का विवेचन करना आवश्यक है। भाषाविज्ञान के जिस पक्ष के अन्तर्गत 'पद' का अध्ययन किया जाता है उसे 'पदविज्ञान' कहते हैं। इसका दूसरा नाम 'रूपविज्ञान' भी है। आधुनिक भाषावैज्ञानिक नामावलि में 'पद' और 'रूप' दोनों समानार्थक मान लिए गए हैं। प्राचीन संस्कृत व्याकरण में भी इन दोनों शब्दों का प्रयोग समानार्थक पर्यायवाचियों के रूप में किया गया है यद्यपि वहां 'पद' का प्रयोग 'रूप' की अपेक्षा अधिक किया गया है। अंग्रेजी में पद के लिए मॉर्फ (Morph) और पदविज्ञान के लिए मॉर्फोलोजी (Morphology) का प्रयोग होता है। पद विज्ञान के अन्तर्गत जिन विषयों का अध्ययन होता है उनमें सबसे पहले पद की परिभाषा दी जा रही है।

पाणिनि ने अष्टाध्यायी में पद की परिभाषा देते हुए कहा है–'सुप्तिङन्तं पदम्' अर्थात् जिसके अन्त में सुबन्त अथवा तिङन्त प्रत्ययों का प्रयोग होता है उसे पद कहते हैं। संस्कृत वाक्यविज्ञान में पद का महत्त्व बहुत अधिक है। "अपदं न प्रयुञ्जीत" अर्थात् वाक्य में पदों का प्रयोग होना चाहिए अपदों अर्थात् प्रत्ययविहीन शब्दों का नहीं। इस प्रकार यद्यपि वाक्य के सन्दर्भ में पदों का महत्त्व स्पष्ट है और पाणिनि की परिभाषा में सुबन्त और तिङन्त प्रत्ययों के आधार पर दी गई 'पद' की परिभाषा को इसी सन्दर्भ में देखना चाहिए, पर इसमें भी कोई सन्देह नहीं कि पाणिनि की परिभाषा को स्वतन्त्र आधार पर देखने समझने का प्रयास करना चाहिए। वैसे तो प्रत्येक पद की सार्थकता उसके वाक्य में प्रयुक्त होने में ही है, पर बिना वाक्य का कोई संकेत दिए पाणिनि ने जो पद की परिभाषा दी है उसका स्वतन्त्र महत्त्व भी स्वयं सिद्ध है।

आधुनिक भाषाविज्ञान पद की इस प्रकार की स्वतन्त्र परिभाषा दे पाने में समर्थ नहीं हो पाया है। आधुनिक भाषाविदों ने या तो ध्वनिसमूह को ही पद मानने का प्रयास किया है या उसकी परिभाषा इस प्रकार दी है कि वाक्य का संदर्भ दिए बिना उसे समझना कठिन हो जाए। डॉ. बाबूराम सक्सेना ने अपने ग्रन्थ 'सामान्य भाषा-विज्ञान' में पद की परिभाषा इस प्रकार दी हैं–"पद उस ध्वनिसमूह को कहते हैं जिसका, वाक्य में भाषा की परम्परा के अनुसार, सम्बन्धतत्त्व, अर्थतत्त्व अथवा इन दोनों के अर्थ का बोध कराने के लिए प्रयोग होता है। यदि ध्वनि-समूह पद है तो एकत्र और कभी-कभी अनेकत्र भी उसके अंशों की स्थिति है।" इसी परिभाषा को कुछ अधिक स्पष्ट शब्दों में किसी अन्य विद्वान ने इस प्रकार कहा है–"शब्दों के साथ जो प्रत्यय जुड़कर उन्हें वाक्य में प्रयुक्त होने के योग्य बनाते हैं उन्हीं को रूप (अथवा पद) कहा जाता है।"

2. पदविज्ञान: अध्ययन का इतिहास

यद्यपि आधुनिक भाषाविज्ञान में भाषा का अध्ययन ध्वनि, अर्थ, पद और वाक्य के रूप में किया जाता है, पर इनमें से सम्भवत: पद का अध्ययन सबसे कम हुआ है। इसके विपरीत भारत में पद-विज्ञान का एक लम्बा और पुराना इतिहास मिलता है। ऐसा मान सकते हैं कि संस्कृत व्याकरण ने जहां शिक्षा ग्रन्थों और प्रातिशाख्यों के रूप में अपने विकास के प्रारम्भिक चरणों में ध्वनि का सांगोपांग अध्ययन किया वहां संस्कृत व्याकरण का परवर्ती विकास-काल पदविज्ञान का इतिहास है। पाणिनि, इससे पूर्व और पश्चाद्वर्ती काल में जितने भी व्याकरण सम्प्रदायों की प्रतिष्ठा हुई उन सभी में पद का ही विशिष्ट अध्ययन किया गया था। प्राचीन संस्कृत व्याकरण काल में सम्प्रदाय प्रवर्तक वैयाकरण उसी को माना जाता था जो पांच व्याकरण ग्रन्थों 'पंचांग व्याकरण' की रचना करता था। इनमें सूत्रपाठ का स्थान प्रमुख हैं और शेष चार ग्रन्थों अर्थात् धातुपाठ, गणपाठ, उणादिपाठ और लिंगानुशासन पाठ को खिलपाठ माना जाता है। वास्तव में इन पांचों व्याकरण पाठों का सीधा सम्बन्ध पदरचना के साथ है और पदविज्ञान के वैज्ञानिक अध्ययन में इनका महत्त्व स्पष्ट है। उत्सर्ग-अपवाद की शैली का आश्रय लेकर पाणिनि ने अपने विश्वविख्यात व्याकरण ग्रन्थ 'अष्टाध्यायी' में पद रचना को जो परिपक्वता और परिपूर्णता प्रदान की वह न केवल उनकी सूक्ष्म भाषावैज्ञानिक दृष्टि की परिचायक है अपितु उससे यह भी सिद्ध होता है कि किस प्रकार उन्होंने अपने से पूर्व की सम्पूर्ण व्याकरण-परम्परा को अपने ग्रन्थों में हमेशा के लिए सुरक्षित कर दिया।

भारत में पदरचना शास्त्र के इतिहास में निरुक्त ग्रन्थों का योगदान भी कम नहीं है। ऐसा माना जाता है कि यास्क से पूर्व तेरह निरुक्त लिखे गए, पर आज हमें केवल यास्क का बारह अध्यायों वाला निरुक्त ही प्राप्त है। निरुक्त में प्रत्येक पद का विश्लेषण उसके अर्थ के आधार पर करने का प्रयास किया गया है। यद्यपि इस प्रयास में कहीं-कहीं अतिवादी दृष्टिकोण भी अपना लिया गया है, पर इससे यह तो सिद्ध होता ही है कि किस प्रकार प्राचीन भारत में पद को वाक्य का अभिन्न अंग मानते हुए भी उसका स्वतन्त्र इकाई के रूप में अध्ययन करने की परम्परा काफी सशक्त थी।

संस्कृत व्याकरण शास्त्र के इतिहास में पदविज्ञान को उस समय विशिष्ट महत्त्व मिला जब तेरहवीं सदी में प्रक्रिया ग्रन्थों का विकास हुआ। इस परम्परा की चरम परिणति सत्रहवीं सदी में भट्टोजि दीक्षित द्वारा रचित व्याकरण सिद्धान्तकौमुदी में हुई। प्रक्रिया ग्रन्थों में पाणिनि की अष्टाध्यायी के सूत्रों को ही आगे पीछे कर इस तरह से पुनः रख दिया गया है कि वे एकान्त रूप से पदरचना के लिए प्रयुक्त कर दिए गए हैं। धातुओं और प्रतिपादकों के साथ उनके प्रत्ययों को जोड़कर प्राथमिक रूपों और फिर कृदन्त और तद्धित रूपों, समास, सन्धि आदि की सहायता से बनने वाले विभिन्न पद-रूपों का विषयानुसार और विश्लेषण इन प्रक्रिया ग्रन्थों में किया गया है। इस प्रकार इन ग्रन्थों में पदरचना को निश्चित वैज्ञानिक आकार दे दिया गया है। निरुक्त ग्रन्थों, पंचांगव्याकरणग्रन्थों के माध्यम से भारत के भाषाविदों ने पदविज्ञान का जितना अध्ययन किया है, आधुनिक भाषाविज्ञान में अभी उतना अध्ययन नहीं हुआ है। विशेष बात तो यह है कि इस क्षेत्र में आधुनिक भाषाविज्ञान ने जितना भी अध्ययन किया है वह लगभग भारतीय व्याकरण-परम्परा पर ही आधारित है।

3. अर्थतत्त्व और सम्बन्धतत्त्व

यद्यपि पाणिनि ने पद की परिभाषा स्वतन्त्र रूप देने का प्रयास किया है और निरुक्त तथा प्रक्रिया ग्रन्थों में पद का विवेचन एक स्वतन्त्र शास्त्र के रूप में हुआ है, पर इसमें कोई सन्देह नहीं कि पद का वास्तविक अस्तित्व और उपयोग उसके वाक्य के अन्तर्गत प्रयुक्त होने में है। वाक्य में जब किसी पद का प्रयोग किया जाता है तो उसका विश्लेषण दो तत्त्वों के आधार पर होता है, जिन्हें भाषाविज्ञान में अर्थतत्त्व और सम्बन्धतत्त्व के रूप में माना जाता है। प्रत्येक पद में एक तत्त्व ऐसा होता है जो उसका अपना अर्थ होता है। इसे ही अर्थतत्त्व कहते हैं। प्रत्येक पद में एक ऐसा तत्त्व भी होता है जो उसे दूसरे पद के साथ जोड़ता है। इसे सम्बन्धतत्त्व कहते हैं। जैसे–रामः गच्छति, यह एक वाक्य है। इस वाक्य के अन्तर्गत दो पदों का प्रयोग किया गया है रामः और गच्छति। 'रामः' इस पद में 'राम' यह अर्थतत्त्व है जो शब्द के मूल अर्थ से हमारा परिचय करवाता है तथा विसर्ग के रूप में एक सम्बन्ध तत्त्व है जो 'राम' पद का सम्बन्ध 'गच्छति' पद से साथ जोड़ रहा है। इसी प्रकार 'गच्छति' पद में गच्छ् (या गम्) अर्थतत्त्व है जो मूल अर्थ अर्थात् 'जाना' का प्रतिपादक है तथा 'ति' सम्बन्धतत्त्व है जो 'गच्छति' पद का सम्बन्ध 'रामः' पद के साथ स्थापित कर रहा है। इस प्रकार प्रत्येक वाक्य में प्रयुक्त होने वाले प्रत्येक पद का विश्लेषण अर्थतत्त्व और सम्बन्धतत्त्व के आधार पर किया जा सकता है।

परन्तु अर्थतत्त्व और सम्बन्धतत्त्व पर आधारित इस पद-विश्लेषण की अपनी कुछ सीमाएं हैं। चूंकि हमारा साक्षात् परिचय संस्कृत भाषा के साथ है इसलिए उसके आधार पर किया गया यह विश्लेषण पर्याप्त स्वाभाविक प्रतीत हो सकता है। केवल भारत की आर्य भाषाएं ही नहीं, लगभग सभी भारोपीय भाषाओं में हमें इस विश्लेषण से सहायता मिलती है। वास्तव में अर्थतत्त्व और सम्बन्धतत्त्व पर आधारित यह विश्लेषण विश्व की सभी भाषाओं पर लागू नहीं होता। यह केवल उन्हीं भाषाओं में सम्भव है जहां वाक्य के अन्तर्गत प्रयुक्त होने के बावजूद पद और वाक्य में अन्तर स्पष्ट दिखाई देता है। चीनी परिवार की एकाक्षरी भाषाओं में इस द्विविध तत्त्व विश्लेषण के आधार पर पद-विवेचन सम्भव नहीं है। इसका कारण यह है कि इस परिवार की एकाक्षरी भाषाओं में एक अक्षर ही पद होता है जिसे नाम-पद या क्रिया-पद आदि में विभक्त करना सम्भव नहीं है और न ही वहां किसी मूल शब्द के साथ किसी प्रत्यय के जुड़ने का कोई अवसर होता है।

पर जिन भाषाओं में सम्बन्धतत्त्व विद्यमान होता है उन पदों वाले वाक्यों में इस तत्त्व का अध्ययन कई प्रकार से किया जा सकता है। ये प्रकार निम्नलिखित हैं–

1. प्रत्यय, उपसर्ग, आदि–अर्थतत्व को सम्बन्धतत्त्व के साथ जोड़ने में जिन माध्यमों का आश्रय लिया जाता है उनमें प्रत्यय, उपसर्ग और मध्यसर्ग का स्थान सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। इन्हें हम अंग्रेजी में क्रमशः Suffix,Prefix और Infix कहते हैं। वास्तव में अर्थतत्व और सम्बन्धतत्त्व का सम्बन्ध स्थापित करने के लिए हम तीन प्रकार से सम्बन्धतत्व का उपयोग कर सकते हैं। हम उसके आदि में उपसर्ग लगाकर उसमें परिवर्तन ला सकते हैं। जैसे 'हार' शब्द के आगे प्र (प्रहार), आ (आहार), सम्

(संहार), वि (विहार), परि (परिहार), उपसम् (उपसंहार), नि (निहार) आदि उपसर्ग या पूर्वसर्ग लगाकर हम उसके अर्थ में गुणात्मक अन्तर पैदा कर देते हैं। पर इसके सम्बन्ध में एक विशेष बात यह जानने योग्य है कि जिस प्रकार सम्बन्ध तत्त्व की कल्पना हम इस रूप में करते हैं कि वह वाक्य में एक अर्थतत्त्व के साथ जोड़े, उपसर्ग उसकी पूर्ति नहीं करता है। उपसर्ग के उपयोग से केवल उस अर्थतत्त्व में अर्थ की विविधता पैदा होती है।

उपसर्ग की अपेक्षा मध्यसर्ग और प्रत्यय सम्बन्धतत्त्व के प्रयोजन को अधिकाधिक पूरा करते है। मध्यसर्ग वास्तव में एक प्रकार का ऐसा प्रत्यय होता है जो शब्द के अन्त में प्रयुक्त होता हुआ भी शब्द के मध्यान्त आकार में परिवर्तन ला देता है और उसके अर्थ में गुणात्मक अन्तर पैदा कर देता है। जैसे विनता शब्द से एय प्रत्यय लगाने से वैनतेय (गरुड़) बनता है। इस प्रत्यय के प्रयोग से विनता शब्द का अन्त्य आकार तो बदलता ही है, उसका मध्य आकार भी पहले जैसा नहीं रहा है। तद्धिदन्त और कृदन्त प्रत्ययों की सहायता से मध्यसर्ग सदृश प्रयत्न पैदा होता है।

पर एक अर्थतत्त्व को दूसरे अर्थतत्त्व के साथ जोड़ने में जितना योगदान प्रत्यय नामक सम्बन्धतत्त्व का होता है उतना किसी अन्य का- नहीं। रामः (राम+सु), रामेण (राम+टा=इन), भवति (भव्+अ+ति) आदि में प्रत्यय का प्रयोग इसी रूप में किया गया है। यह सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण इसलिए है क्योंकि संज्ञावाची शब्द या सर्वनाम के साथ कौन सा सम्बन्ध तत्त्व जोड़ना चाहिए इसका निर्णय उस सम्बन्धतत्त्व (प्रत्यय) से होता है जो धातु से साथ जुड़ा है। जैसे—रामः पठति में राम के साथ विसर्ग जोड़ने से पहले यह निश्चित कर लेना पड़ेगा कि पठ् के साथ ति का प्रयोग है सि या मि का नहीं। इन्हीं प्रत्ययों या परसर्गों को हम व्याकरण की भाषा में विभक्ति प्रत्यय कहते हैं क्योंकि इन प्रत्ययों की सहायता से हम शब्दों की विभिन्न कारक विभक्तियों रूपों का और धातुओं के विभिन्न पुरुषविभक्तियों के रूपों का निर्धारण करते हैं।

2. शून्य सम्बन्ध तत्त्व—संस्कृत में कुछ शब्दों के बाद प्रत्यय लगा हुआ नहीं नजर आता और उनका रूप, विशेषकर प्रथमा एकवचन का उनका रूप मूल रूप के समान ही होता है। जैसे नदी शब्द का प्रथमा एकवचन का रूप भी नदी है, लता शब्द का प्रथमा एकवचन का रूप भी लता है, भूभृत् शब्द का प्रथमा एकवचन रूप भूभृत् है। इस सम्बन्ध में विश्लेषण दो प्रकार से किया जाता है। संस्कृत वैयाकरणों का इस विषय में दृष्टिकोण यह है कि इन शब्दों के बाद प्रथमा एकवचन का सम्बन्धतत्त्व वाची सु प्रत्यय लगा हुआ है परन्तु उसका लोप हो चुका है। ऐसा इसलिए माना जाता है क्योंकि संस्कृत वैयाकरण बिना विभक्ति प्रत्यय के किसी शब्द की कल्पना भी नहीं करते और यदि वहां वह प्रत्यय नहीं है तो वे वहां उसका अभाव नहीं मानते अपितु उसे लाकर उसका लोप कर देते हैं। दूसरा दृष्टिकोण आधुनिक भाषाविज्ञान का है जो पद की ऐसी किसी परिभाषा से अभी तक भी वैज्ञानिक स्तर पर वैसा नहीं बंधा है जैसे संस्कृत वैयाकरण बँधे हैं। इसलिए भाषाविज्ञान में अर्थतत्त्व के पीछे शून्य सम्बन्ध तत्त्व को मानकर उसका विश्लेषण भी उसी प्रकार किया जाता है।

3. स्वतन्त्र शब्द—भाषा में अनेक शब्द ऐसे होते हैं जिनके पीछे सम्बन्धतत्त्व का न तो अभाव होता है और न ही उनके और अधिक रूप बनाए जा सकते हैं। संस्कृत भाषा से उदाहरण लें तो उच्चैः नीचैः, कथम्, एवम्, अहो जैसे शब्दों को इस श्रेणी में परिगणित किया जा सकता है। संस्कृत व्याकरण में इन्हें अव्यय कहा जाता है। अव्यय का अर्थ ही यही है कि जिसके अर्थ ग्रहण और प्रयोग के लिए सम्बन्धतत्त्व की अलग से कोई आवश्यकता न हो। वही एक आकार सभी प्रकार के अर्थों की प्राप्ति करा दे और विभिन्न अर्थों की प्राप्ति के लिए हमें विभिन्न प्रकार से सम्बन्धतत्त्व जोड़ने की आवश्यकता ही न हो। आधुनिक भाषाविज्ञान ऐसे शब्दों को स्वतन्त्र शब्द कहता है।

स्वतन्त्र शब्दों की परिधि में वे सभी शब्द आ जाते हैं जिन्हें अंग्रेजी के व्याकरण में artical, preposition और Conjunction कहा जता है और जिनके निश्चित अर्थ की प्राप्ति के लिए किसी सम्बन्धतत्त्व को जोड़ने की जरूरत नहीं पड़ती। हिन्दी में ऊपर, और, अथवा, अगर, किन्तु, और अंग्रेजी भाषा में प्रयुक्त and, on, but, under इसी प्रकार के शब्द हैं। चूंकि ये शब्द अपने अर्थ सम्प्रेषण और वाक्य में अपने स्थान के लिए 'रामः पठति' के समान किसी सम्बन्धतत्त्व की अपेक्षा नहीं रखते, केवल अपने अर्थतत्त्व के आधार पर ही चलते रहते हैं, इसलिए भाषाविज्ञान में इन्हें स्वतन्त्र शब्द कहा जाता है।

4. शब्दस्थान—पद के लिए दो तत्त्वों का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है अर्थतत्त्व और सम्बन्धतत्त्व और एक दूसरे के साथ जुड़ने से पहले दोनों का पृथक् अस्तित्व होता है। परन्तु कुछ उदाहरण ऐसे भी होते हैं जिनमें एक ही शब्दों में दोनों तत्त्वों को एक साथ प्राप्त किया जा सकता है। ऐसा 'शब्दस्थान' के कारण होता है। शब्दस्थान का अर्थ है कि शब्दों के स्थान परिवर्तन से ही कुछ उदाहरणों में अर्थ का परिवर्तन हो जाता है और वहां अर्थपरिवर्तन उत्पन्न करने के लिए शब्द के साथ अलग से

सम्बन्धतत्त्व जोड़ने की आवश्यकता नहीं रहती है। जैसे–

धनपति = धन का स्वामी

पतिधन = पति का धन

राजपुरुष = राजा का सिपाही

पुरुषराज = मनुष्यों में श्रेष्ठ

ग्राममल्ल = गांव का पहलवान

मल्लग्राम = पहलवानों का गांव इत्यादि

इस तरह के उदाहरण समासयुक्त पदों में ही अधिकतर होते हैं। हिन्दी या संस्कृत में ही नहीं, उन सभी भाषाओं में जहां वाक्य रचना में समास का महत्त्वपूर्ण स्थान है, वहां पदरचना में अर्थ की प्राप्ति के लिए शब्दस्थान को रेखांकित करना आवश्यक हो जाता है।

5. ध्वनिप्रतिस्थापन–हम चाहें तो इसे अपश्रुति का एक रूप भी कह सकते है। हम ऊपर कई बार कह आए हैं कि पदरचना में अर्थतत्त्व और सम्बन्धतत्त्व दोनों का महत्त्व होता है। ये दोनों पृथक्-पृथक् होते हैं किन्तु अर्थतत्त्व की वाक्य में अवस्थिति सम्बन्धतत्त्व के जुड़ने से ही होती है। परन्तु कुछ उदाहरणों में ऐसा होता है कि अर्थतत्त्व में ही स्वर के परिवर्तन से शब्द का अर्थ बदल जाता है। इसे उदाहरण से समझने का प्रयास करें। अंग्रेजी भाषा के क्रिया रूप sing, sang, sung में केवल एस. के बाद आने वाले स्वर के आकार में गुणात्मक परिवर्तन आ जाने मात्र से ही उसके अर्थ में परिवर्तन हो गया है। इसमें अर्थपरिवर्तन लाने के लिए किसी उपसर्ग, मध्यसर्ग अथवा प्रत्यय की आवश्यकता ही नहीं पड़ी है। भाषावैज्ञानिक शब्दावलि में इसे ध्वनिप्रस्थापन कहा जाता है।

इस प्रकार यद्यपि पदरचना में अर्थतत्त्व और सम्बन्धतत्त्व दोनों का स्थान महत्त्वपूर्ण होता है पर इन दोनों में से अर्थतत्त्व का महत्त्व अधिक है क्योंकि वह मूलभूत है और उसके अभाव में सम्बन्धतत्त्व काम कर ही नहीं सकता। सम्बन्धतत्त्व महत्त्वपूर्ण होते हुए भी अर्थतत्त्व की अपेक्षा गौण है क्योंकि जैसे हमने कुछ उदाहरणों में देखा है, शून्य सम्बन्धतत्त्व, स्वतन्त्र शब्द, शब्दस्थान, ध्वनिप्रस्थापन जैसे उपकरणों की सहायता से सम्बन्धतत्त्व-वाची प्रत्ययों आदि का उपयोग किए बिना भी अर्थ में परिवर्तन को प्रभावित किया जा सकता है।

4. धातु एवं प्रातिपादिक

अब तक हमने ऊपर पदरचना के विषय में जितना भी विवेचन किया है उसमें सम्बन्धतत्त्व के साथ-साथ अर्थतत्त्व की इतनी अधिक चर्चा हुई है कि धातु और प्रातिपादिक पर और कुछ कहने के लिए विशेष रह नहीं जाता है। इसका कारण यह है कि संस्कृत व्याकरण में जिसे हम प्रकृति कहते हैं उसे ही भाषाविज्ञान में अर्थतत्त्व कहते हैं।

प्रकृति का अर्थ है स्वभाव अथवा मूल अवस्था। प्रत्येक पद में दो विभाग होते हैं, एक शब्द अथवा धातु और दूसरा इनके बाद लगने वाले सुबन्त और तिङन्त प्रत्यय। इन्हीं शब्द और धातु को हम व्याकरण में प्रकृति इस नाम से जानते हैं। इसी प्रकृति के दो रूप हैं–धातु और प्रातिपादिक। सामान्य प्रयोग में हम इसी प्रातिपादिक को शब्द भी कह देते हैं।

धातु क्या होती है? इसकी परिभाषा देना सरल नहीं है। महान् वैयाकरण आचार्य पाणिनि ने अपनी अष्टाध्यायी में धातु की कोई परिभाषा नहीं दी है। उनका इस सम्बन्ध में एक सूत्र है–भूवादयो धातवः। अर्थात् भू आदि को धातु कहते हैं। पर इस सूत्र को धातु की परिभाषा मानने के बजाए इस प्रकार का मान सकते हैं कि पाणिनि के पंचांग व्याकरण में जहां भू, एध् आदि का संकलन किया गया है उस भू एध् आदि को धातु कहते हैं। वैसे धातु को किसी भी क्रिया रूप रचना की ऐसी न्यूनतम इकाई मान सकते हैं, जिसमें किसी भी स्तर पर कोई प्रत्यय न लगा हो। धातुरचना के लिए धातु के बाद लगने वाले प्रत्ययों को तिङन्त प्रत्यय कहते हैं।

जहां तक प्रातिपादिक के अर्थ का प्रश्न है उस मूल शब्द को प्रातिपादिक कहते हैं जो शब्द रूपरचना के प्रत्येक पद में प्राप्त हो जाए। वैसे यह परिभाषा इतनी व्यापक है कि धातु के लिए भी प्रातिपादिक का प्रयोग हो सकता है क्योंकि वह भी तो धातुरूप रचना के प्रत्येक पद में प्राप्त हो जाता है। परन्तु व्याकरण में प्रातिपादिक शब्द राम, हरि, भानु सदृश मूलशब्दों के लिए रूढ़ हो गया है।

धातु के समान प्रातिपादिक रूपरचना की न्यूनतम इकाई इसलिए नहीं होते क्योंकि धातु के बाद लगने वाले विभिन्न कृदन्त और उणादि रूपों की सहायता से प्रायः शब्दों का निर्माण होता है। पर फिर भी यत्, तत्, एतत्, युष्मद्, अस्मद्, सदृश सर्वनामवाची शब्द ऐसे होते हैं जो अपने आप में अधातु शब्द हैं और इसलिए स्वतन्त्र हैं।

5. पदग्राम एवं संपद/संरूप

ऊपर हम संक्षेप में धातु और प्रातिपादिक का तथा पर्याप्त विस्तार के साथ अर्थतत्त्व और सम्बन्धतत्त्व का विवेचन कर आए हैं। इसके बाद पदग्राम और संपद अथवा रूपग्राम और संरूप को समझने में कोई कठिनाई नहीं आनी चाहिए। पहले हम रूपग्राम की परिभाषा से प्रारम्भ करें। रूपग्राम को पदग्राम और रूपिम भी कहते हैं। वाक्य में प्रयुक्त छोटी सार्थक इकाई को रूपग्राम कहते हैं। एक वाक्य की सहायता से इसका अध्ययन करें।

रामः विद्यालयं याति–इस संस्कृत वाक्य में छह रूपग्राम हैं। वह कैसे? रामः=राम+सु दो रूपग्राम हैं, विद्यालय+अम्, या+ति इस प्रकार सबको मिलाकर छह रूपग्राम बन जाते हैं। रामः का सूक्ष्मतम ध्वनियों में विवेचन होता है र् + आ + म् + अ + विसर्जनीय=रामः। इसी प्रकार विद्यालयम् और याति का भी सूक्ष्मतम ध्वनियों तक विवेचन हो सकता है। पर हम र, आ, म, अ, सदृश ध्वनियों को रूपग्राम या पदग्राम नहीं कह सकते क्योंकि निःसंदेह ये न्यूनतम ध्वनि इकाईयां हैं पर ये निरर्थक हैं और पदग्राम कहलाए जाने के लिए न्यूनतम इकाई को सार्थक होना बहुत आवश्यक है।

इस परिभाषा को ध्यान में रखते हुए कई प्रकार के पदग्राम अथवा रूपग्राम हो सकते हैं। जब कोई रूपग्राम अकेला ही प्रयोग में आ रहा हो तो उसे हम 'मुक्तरूपग्राम' कहते हैं। लौकिक संस्कृत में इस प्रकार के उदाहरण बहुत नहीं हैं। वहां उपसर्ग और प्रत्यय हमेशा किसी न किसी के साथ जुड़कर ही प्रयुक्त होते हैं। इसलिए उनके मुक्त पदग्राम के रूप में वाक्य में रहने की सम्भावनाएं कम होती हैं। अंग्रेजी भाषा में From, Over, Under, जैसे पदग्राम मुक्त हैं। वैदिक संस्कृत में इसके उदाहरण ढूंढे जा सकते हैं। वहां वाक्य में धातु के साथ जुड़ा हुआ होने पर भी उपसर्ग उससे पूर्व या पश्चात् व्यवधान आ जाने पर स्वतन्त्र रूप से प्रयोग में लाया जा सकता है।

जैसे–अवस्यूमेव चिन्वती मघोन्युषा याति स्वसरस्य पत्नी।

स्व । र्जनन्ती सुभगा सुदंसा आन्ताद् दिवः: पप्रथ आ पृथिव्याः॥

उपरोक्त मन्त्र में अव उपसर्ग और चिन्वती धातु के बीच 'स्यूम इव' पदों का व्यवधान है।

कालिदास ने भी रघुवंश महाकाव्य के तेरहवें सर्ग में एक ऐसा ही प्रयोग किया है=प्रभ्रंशयां यो न नहुषं चकार। इसमें प्रभ्रंशयां को एक सीमा तक मुक्त पदग्राम कह सकते हैं।

दूसरे प्रकार के रूपग्राम शब्द-रूपग्राम कहलाते हैं। ये रूपग्राम सदा किसी न किसी रूप के साथ जुड़े हुए ही होते हैं। वैसे अधिकांश रूपग्राम इसी कोटि के होते हैं। भवति, पठति, पचति आदि में तिप् (ति), रामम्, पुरुषम्, देशम् आदि में अम् (म्) इसी प्रकार के रूपग्राम हैं। सुन्दरता, जनता, योग्यता जैसे उदाहरणों में 'ता' को भी बद्ध पदग्रामों की कोटि में रखा जा सकता है।

इन दो कोटियों के अतिरिक्त कुछ रूप तीसरी कोटि के होते हैं जिन्हें हम बद्धमुक्त-रूपग्राम कह सकते हैं। अर्थात् ये रूपग्राम ऐसे होते हैं जो धातुरूपों या शब्द रूपों के साथ जुड़कर भी प्रयोग में आते हैं तथा मुक्त रूप में भी प्रयोग में आते हैं। संस्कृत में कर्मप्रवचनीयों को इस श्रेणी में रखा जा सकता है। कर्मप्रवचनीय वे उपसर्ग रूप हैं जो धातुरूपों के प्रारम्भ में प्रयुक्त होते हैं। पर कुछ उदाहरणों में वे स्वयं भी कर्म कारक का अर्थ देने लग जाते हैं। जैसे–

'अनु हरि सुराः सन्ति' अर्थात् सभी देवताओं का स्थान विष्णु के बाद आता है। 'जपम् अनु प्रावर्षत्' अर्थात् जप पूरा होते ही वर्षा हो गई। इन दोनों वाक्यों में अनु उपसर्ग का प्रयोग स्वतन्त्र पदग्राम के रूप में है जबकि प्रायः सर्वत्र यह उपसर्ग, अन्य सभी उपसर्गों के समान धातुरूप के प्रारम्भ में ही प्रयोग में लाया जाता है। इसलिए इस पदग्राम को बद्धमुक्त-पदग्राम कह सकते हैं।

पदग्राम अथवा रूपग्राम के बाद संपद का अध्ययन हो सकता है। संपद की अपेक्षा संरूप शब्द का प्रयोग अधिक होता है। एक ही रूपग्राम (जिसे पदग्राम अथवा अत्यन्त आधुनिक भाषावैज्ञानिक शब्दावलि में रूपिम भी कह देते हैं) के एक से

अधिक समानार्थक रूपों को संरूप कहते हैं। चूंकि रूपग्राम में सार्थकता का महत्त्व अधिक माना गया है, इसलिए एक ही रूपग्राम के विभिन्न रूपों का अर्थ की दृष्टि से समान होना अधिक महत्त्वपूर्ण है जबकि उनकी ध्वन्यात्मक समानता का स्थान महत्त्व की दृष्टि से गौण है। अंग्रेजी के उदाहरण से प्रारम्भ करें। अंग्रेजी में बहुवचन-वाची प्रत्यय कई तरह के हैं। जैसे–Tables,Chains में s, boxes, matches आदि मे es, Oxen, children, bretheren आदि में en और Poor, Sheep आदि में अभावात्मक ध्वनि–इस प्रकार बहुवचन का सम्प्रेषण कई प्रत्ययों के रूप में होता है। पर दो बातें ध्यान देने योग्य हैं। एक इनकी ध्वनियां अलग-अलग हैं, दूसरे उनके अर्थ में समानता है। इन्हें बहुवचनवाची रूपग्रामों का संरूप कह सकते हैं। हिन्दी में इसके समानान्तर लड़का-लड़के, लड़की-लड़कियां, बहू-बहूएं, साधु-साधु, बालक-बालक आदि रूपों में बहुवचन के अनेक रूप देखे जा सकते हैं। इन्हें हम हिन्दी बहुवचन रूपग्रामों का संरूप मान सकते हैं। यही स्थिति संस्कृत के राम:–रामा:, लता–लता:, कवि:–कवय:, भानु:–भानव:, आत्मा–आत्मन:, वधू–वध्व:, चन्द्रमा:–चंद्रमस: जैसे बहुवचनवाची रूपों के परिप्रेक्ष्य में कही जा सकती है।

6. काल

रूपविज्ञान में अर्थतत्त्व और सम्बन्धतत्त्व का महत्त्व इतना अधिक है कि छात्रों को इसके बार-बार किए जा रहे प्रयोग से आश्चर्यचकित नहीं होना चाहिए। वास्तव में रूपविज्ञान में अर्थतत्त्व एक जड़ तत्त्व है जिसमें प्राणसंचार का कार्य सम्बन्धतत्त्व के कारण होता है। जैसे–बालक और पढ् ये दोनों अर्थतत्त्व हैं, ये दोनों एक निश्चित अर्थ देते हैं पर जब हम इनका वाक्य में प्रयोग करते हैं तो ये दोनों अर्थतत्त्व अपने अर्थ को कई प्रकार के आयामों में व्यक्त करते हैं। इस अर्थ को कई प्रकार के आयामों तक पहुंचाने में निर्णायक योगदान सम्बन्धतत्त्व का होता है जो स्वयं कई रूपों में व्यक्त होता है। सम्बन्धतत्त्व के ऐसे अनेक रूपों में एक रूप है काल, जिस पर विचार किया जाना आवश्यक है।

काल तीन हैं–वर्तमान, भूत और भविष्य। इन तीन कालों को अभिव्यक्त करने के लिए सम्बन्ध तत्त्वों का प्रयोग दो प्रकार से होता है। एक प्रकार यह है कि कालवाची सम्बन्ध तत्त्व धातुरूप रचना के एक अभिन्न अंग के रूप में काम करता हैं और उस रूप रचना से अलग हो जाने पर उसकी कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं होती। संस्कृत के सभी कालवाची सम्बन्धतत्त्व अर्थात् प्रत्यय इसी श्रेणी के हैं। जैसे भविष्यति में 'स्य' प्रत्यय भविष्यत् काल का बोध स्थूल रूप से कराता है। परन्तु 'भविष्यति' इस धातुरूप रचना से पृथक् होकर इस रूप का अपना कोई स्वतन्त्र अस्तित्त्व नहीं है। अंग्रेजी में work के भूतकालिक रूप worked में भूतकालवाची ed की भी यही स्थिति है। परन्तु कुछ कालवाची सम्बन्धतत्त्व ऐसे होते हैं जिसका अपना पृथक् आकार और महत्त्व भी होता है भले ही वाक्य में उनकी स्वतन्त्र प्रयोग क्षमता बिल्कुल न हो या सीमित हो। अंग्रेजी का भविष्यत् कालवाची सम्बन्धतत्त्वों shall और will की ऐसी ही स्थिति है। I sahll go अथवा you will go जैसे वाक्यों में ये दोनों भूत कालवाची ed की तरह अन्तर्मुक्त नहीं हो जाते, अपना स्वतन्त्र आकार बनाए रखते हैं। इतना ही नहीं कुछ सीमित परिस्थितियों में स्वतन्त्र रूप से भी भविष्यत् काल का अर्थ देते हैं।

जैसे–"Will you go to office today".

"Yes,I will"

इस उदाहरण में पहले वाक्य में will का प्रयोग go के साथ मिलकर भविष्यकाल की सूचना दे रहा है, वहां दूसरे वाक्य में will का प्रयोग स्वतन्त्र रूप से भविष्य की सूचना दे रहा है फिर चाहे उसमें जाना क्रिया अन्तर्निहित ही क्यों न हो।

संस्कृत में इन कालों की अभिव्यक्ति लकारों के माध्यम से होती है। संस्कृत में लकार दस होते हैं। यदि उनमें वैदिक भाषा का लेट् लकार भी जोड़ दिया जाए तो इस संख्या को ग्यारह तक भी पहुंचाया जा सकता है। वर्तमान के लिए एक ही लकार है–लट्। भूतकाल के लिए तीन लकार हैं–लिट्, लङ् और लुङ्, भविष्य काल के लिए दो लकार है–लुट् और लृट्। यदि 'यदि वर्षा होगी तो खेती अच्छी होगी' जैसे वाक्यों में प्रयुक्त हेतु हेतुमद्भाव को भी एक विशेष प्रकार का भविष्यत्काल मान लिया जाए तो लृङ् को भी हेतु हेतुमद्भाववाची भविष्यत् का लकार माना जाएगा।

संस्कृत भाषा में लकारों के माध्यम से केवल काल का ही बोध नहीं होता अपितु भावों का भी बोध होता है। इस प्रकार अंग्रेजी में Subjunctive और Objunctive कहे जाने वाले भावों की अभिव्यक्ति संस्कृत में लेट् लकार के द्वारा होती है। पर इन भावों का प्रयोग केवल वैदिक संस्कृत में ही होता है लौकिक संस्कृत में नहीं होता। इसके अतिरिक्त आज्ञार्थक के लिए लोट् लकार का, प्रेरणार्थक के लिए विधिलिङ् लकार का और आशीर्वादात्मक भाव के लिए आशीर्लिङ् का प्रयोग मिलता है।

7. लिंग

भाषा में लिंग तीन प्रकार के माने गए हैं–पुल्लिंग, स्त्रीलिंग और नपुंसकलिंग। इनमें से पुल्लिंग और स्त्रीलिंग का प्रयोग प्राणवान् जीवों के लिए होता है जबकि नपुंसक लिंग का प्रयोग प्राय: जड़ और बेजान वस्तुओं के लिए होता है। प्राय: पुरुषवाची प्राणियों के लिए पुल्लिंग का प्रयोग होता है, जैसे सूर्य:, नर:, हरि:, पिता इत्यादि। इसी प्रकार प्राय: स्त्रीवाची प्राणियों के लिए स्त्रीलिंग का प्रयोग होता है। जैसे–नदी, लता, धेनु इत्यादि। जो इन दोनों लिंग वर्गों में न आ सके उसे नपुसंकलिंग में रखा जा सकता है।

यह लिंग का एक आदर्श विवेचन है। पर यदि भाषा का थोड़ा सटीक विश्लेषण करें तो पाएंगे भाषा कभी भी लिंग की किसी निश्चित परिभाषा पर नहीं चलती। इसलिए किसी भी वस्तु का लिंग वैसा क्यों है इसके उत्तर में विद्वान् प्राय: व्याकुल हो जाते हैं। उदाहरणतया कभी-कभी लिंग का प्रयोग वस्तु या व्यक्ति के ज्ञात स्वरूप के विपरीत कर दिया जाता है। उदाहरण के तौर पर हम संस्कृत का दारा शब्द ले सकते हैं। दारा: का अर्थ है पत्नी। पत्नी महिला ही होती है किन्तु दारा: पुल्लिंगवाची है जिसके परिणामस्वरूप दारा: का प्रयोग तो पुल्लिंग में ही किया जाता है वह नित्य बहुवचन में होता है। इसी प्रकार संस्कृत में देव शब्द पुल्लिंगवाची है पर उसका पर्यायवाची देवता शब्द स्त्रीलिंग भी होता है। दूसरी ओर कुछ शब्द ऐसे होते हैं जो केवल पुल्लिंग या केवल स्त्रीलिंग में प्रयुक्त होते हैं जबकि वास्तव में उनका प्रयोग दोनों लिंगों के लिए होना चाहिए। उदाहरणतया–मक्खी, चींटी, लोमड़ी, चिड़ियां, सदृश शब्द केवल स्त्रीलिंग में है जबकि इनके पुल्लिंग रूप भी होने चाहिए। इसी प्रकार बिच्छू, गाजर, खरगोश, मगरमच्छ जैसे केवल पुल्लिंगवाची हैं जबकि इनका प्रयोग स्त्रीलिंग रूपों में भी होना चाहिए।

केवल शब्द रूप ही नहीं, कुछ भाषाओं में धातु रूपों का सम्बन्ध भी लिंग के साथ होता है। उदाहरणतया–संस्कृत या अंग्रेजी भाषा लिंग के साथ कोई सम्बन्ध नहीं होता जबकि हिन्दी में होता है। राम: याति, सीता याति–इन दोनों उदाहरणों में राम: और सीता क्रमश: पुल्लिंग और स्त्रीलिंग है, पर याति क्रियापक्ष में कोई अन्तर नहीं पड़ता है। इसी प्रकार अंग्रेजी में (Rama goes, Sita goes जैसे वाक्यों में goes) क्रिया का प्रयुक्त लिंग के अनुसार रूप नहीं बदला है। पर हिन्दी में 'राम जाता है, सीता जाती है' में राम और सीता के अनुसार क्रमश: 'जाता है' और 'जाती है' का प्रयोग लिंग में आए परिवर्तन को ध्यान में रखकर किया गया है।

यह एक रोचक जानकारी हो सकती है कि काकेशस परिवार की चेचेन बोली में छह लिंग हैं।

8. वचन

यदि भाषा के वैज्ञानिक आधार पर सोचा जाए तो कह सकते हैं कि वचन दो हैं–एकवचन और बहुवचन। परन्तु संस्कृत, लिसुसरनिय, सदृश भाषाओं में द्विवचन का प्रयोग भी है कुछ अफ्रीकी भाषाओं में त्रिवचन का प्रयोग भी मिलता है।

प्रश्न उठता है कि संस्कृत में द्विवचन की परम्परा कैसे शुरू हो गई है। जैसा कि हम कई बार इस समस्या पर विचार करेंगे, ऐसा प्रतीत होता है इसका प्रचलन वैदिक देवशास्त्र में देवताद्वन्द्व के कारण हुआ होगा। वेदों में देवता प्राय: एक-एक ही हैं, पर कुछ देवता ऐसे भी हैं जिनमें दो रूपों को एक साथ रख दिया गया है। 'अश्विनौ' दो अश्विनीकुमार हैं। मित्रावरुणौ, सूर्याचन्द्रमसौ, रोदसी, द्यावापृथिवी सदृश अनेक देवता ऐसे हैं जो देवता-युग्म या देवता-द्वन्द्व कहे जाते हैं।

पर ऐसा प्रतीत होता है कि देवता युग्म की यह परम्परा सिर्फ वेदों तक भी सीमित नहीं रही। दो देवताओं की एक साथ उपस्थित देखकर संसार के हर पक्ष में द्विवचन खोजने का प्रयास किया गया। संस्कृत में इस खोज का परिणाम द्विवचन शब्द रूपों में नियमित रूप से इस वचन के प्रयोग के रूप में सामने आया। परन्तु चूंकि द्विवचन एक अवास्तविक भाषाई प्रक्रिया है, इसलिए स्वयं संस्कृत में ही इसके कम होते रूपों से हमारा परिचय होता है। संस्कृत की कुल सात विभक्तियों के केवल तीन द्विवचन रूप होते हैं। प्रथमा-द्वितीया, तृतीया-चतुर्थी-पंचमी तथा षष्ठी, सप्तमी के एक समान द्विवचन रूप मिलते हैं। पालि में द्विवचन की समाप्ति पर विशेष आग्रह नही मिलता परन्तु प्राकृत भाषाओं में द्विवचन लुप्त होना शुरू हो जाता है, और अपभ्रंश तक आते-आते इसका कतई लोप हो चुका है।

पाठ–10

वाक्य–विज्ञान

–डॉ. सूर्यकान्त बाली

वाक्य की परिभाषा

पिछले पाठ संख्या एक और दो में भाषा के गठन का विश्लेषण करते समय उसके चार गठक तत्त्वों का परिचय दिया गया था। इन चार गठक तत्त्वों के नाम हैं–ध्वनि, अर्थ, पद और वाक्य। हम क्रमशः ध्वनि, अर्थ और पद का विश्लेषण कर आए हैं। अब इस श्रृंखला में अन्तिम गठक तत्त्व 'वाक्य' के विश्लेषण करने की आवश्यकता है।

यदि भाषा का सीधा सम्बन्ध विचारों के सम्प्रेषण से है तो वाक्य का उसमें सबसे महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसका कारण यह है कि बिना वाक्य का उच्चारण किए हम किसी भी विचार का सम्प्रेषण नहीं कर सकते। केवल निरर्थक ध्वनियों के उच्चारण से तो किसी विचार के सम्प्रेषण की सम्भावना ही नहीं है, केवल अलग-अलग उच्चारित सार्थक ध्वनियों से भी विचार सम्प्रेषण में विशेष सहायता नहीं मिलती। यद्यपि अर्थतत्त्व और सम्बन्धतत्त्व की सहायता से बनने वाले शब्द-रूपों और धातुरूपों का अर्थ के सम्प्रेषण की दृष्टि से बहुत ज्यादा महत्त्व है, परन्तु जब तक उनका प्रयोग एक वाक्य के रूप में न किया जाए तब तक वे अर्थ का निश्चित सम्प्रेषण नहीं कर सकते। इसलिए वाक्य का प्रयोग किए बिना हम वांछित अर्थ का सटीक और असंदिग्ध सम्प्रेषण नहीं कर सकते।

इस आधार पर वाक्य को भाषा की न केवल सबसे महत्त्वूपर्ण अपितु न्यूनतम इकाई भी माना गया है। इसे न्यनूतम इकाई मानने का यह अर्थ नहीं है कि इसके आगे और हिस्से नहीं हो सकते। वास्तविकता यह है कि हम वाक्य का विभाजन पदों में और पदों का विभाजन ध्वनियों में करते ही हैं। पर इस सम्बन्ध में यह नहीं भूलना चाहिए कि वाक्य का यह विभाजन उसके ध्वनिसमुदाय के अध्ययन की सुविधा के लिए ही है। जहाँ तक अर्थ की दृष्टि से वाक्य के एक इकाई होने का प्रश्न है उसका आगे विभाजन सम्भव ही नहीं है। यहां यह भी नहीं भूलना चाहिए कि पद रचना में अर्थतत्त्व के साथ जो सम्बन्धतत्त्व को जोड़ा जाता है वह वाक्य के सन्दर्भ में अर्थतत्त्व के विभिन्न प्रयोगों को नियमित करने के लिए होता है। वाक्य को अर्थसम्प्रेषण की दृष्टि से भाषा की न्यूनतम और सबसे महत्त्वपूर्ण इकाई माना जाता है और पदों और वर्णों में उसका विभाजन ध्वनि अध्ययन की सुविधा के लिए होता है न कि वह अर्थ प्राप्ति के अध्ययन की दृष्टि से उसका वास्तविक विभाजन होता है। इस भाषा सिद्धान्त का सुन्दर उपस्थान आचार्य भर्तृहरि ने अपने वाक्यपदीय नामक ग्रन्थ में निम्नलिखित कारिका में किया है–

पदे न वर्णा विद्यन्ते वर्णेष्ववयवा: न च वाक्यात् पदानामत्यन्तं प्रविवेके न कश्चन।

अर्थात्–न तो पदों का वर्णों में विभाजन होता है और न ही वर्णों का आगे सूक्ष्मतर ध्वनियों में विभाजन होता है।। वास्तव में पदों को वाक्य से अलग कर उनका विवेचन कर पाना सम्भव नहीं है।

इस सारी पृष्ठभूमि को देखते हुए भाषा में वाक्य की स्थिति का चित्र काफी स्पष्ट हो जाता है और वाक्य की परिभाषा का आकलन कर पाना कठिन नहीं है। भाषा विज्ञान में वाक्य की परिभाषा इस प्रकार दी जाती है कि "वाक्य सार्थक ध्वनियों का एक ऐसा समूह होता है जो अर्थ को सम्प्रेषित करने में सक्षम हो।" भारत में जिस प्रकार शिक्षा-प्रातिशाख्यों में ध्वनिशास्त्र का, निरुक्त में अर्थ विज्ञान का, व्याकरण में पदविज्ञान का सांगोपांग अध्ययन हुआ है उसी प्रकार वाक्य के अध्ययन की भी एक लम्बी और पुरानी परम्परा के दर्शन हमें भारत में होते हैं। व्याकरण के दर्शन का विवेचन करने वाले वाक्यपदीय आदि ग्रन्थों में और मीमांसा शास्त्र में वाक्य का गहन अध्ययन हुआ है। काव्यशास्त्र भी कुछ सीमा तक वाक्य का अध्ययन करता है पर यह उसका मुख्य अध्ययन विषय नहीं है। इन सभी शास्त्रों में वाक्य की जो परिभाषाएं दी गई हैं उन पर एक दृष्टि डाल लेना आवश्यक है।

वाक्यपदीय एक ऐसा ग्रन्थ है जिसमें भर्तृहरि ने कुछ विषयों को लेकर अपना मत देने की अपेक्षा विभिन्न प्रचलित मतों का संग्रह कर दिया है। वाक्य भी एक ऐसा ही विषय है जिसको लेकर भर्तृहरि ने अपने ग्रन्थ में विभिन्न परिभाषाओं को संग्रहीत किया है। ऐसी परिभाषाएं संख्या में आठ हैं जो इस प्रकार हैं–

1. क्रिया ही वाक्य है।

2. पदों का समूह वाक्य हैं।

3. जाति वाक्य है।

4. अनवयव, एक शब्द वाक्य है जिसमें अवयवों की कल्पना बाद में कर ली जाती है।

5. पदों का क्रम वाक्य है।

6. बिना क्रम के ही शब्दों के बुद्धि द्वारा अनुसंकृत रूप का नाम वाक्य है।

7. आद्य पद वाक्य है अर्थात् जिस पद का वाक्य में सर्वप्रथम प्रयोग किया जाता है, वही वाक्य है।

8. सभी पद परस्पर साकांक्ष होने पर भी वाक्य हैं।

स्पष्ट है कि भर्तृहरि ने अपने समय में वाक्य के सम्बन्ध में प्रचलित सभी धारणाओं का संग्रह कर दिया है। पर इसके साथ एक समस्या यह भी है कि इन सभी परिभाषाओं के बावजूद न तो हमें यह ज्ञात होता है कि भर्तृहरि इसमें से किस परिभाषा को सर्वाधिक वैज्ञानिक मानते हैं और न ही हमें यह ज्ञात होता है इनमें से वैयाकरणों को सबसे अधिक किस परिभाषा के साथ जोड़ा जा सकता है। इसलिए वैयाकरणों की वाक्य परिभाषा के लिए हमें कात्यायन द्वारा दी गई परिभाषा पर संक्षेप में विचार करना होगा।

कात्यायन से पूर्व हमें किसी वैयाकरण द्वारा दी गई वाक्य परिभाषा उपलब्ध नही होती। इसलिए उसकी परिभाषा को प्राचीनतम माना जा सकता है। महाभाष्य में 2.1.1. सूत्र की व्याख्या में कात्यायन की इस वाक्य परिभाषा को उद्धृत किया गया है–

"आख्यातं साव्ययकारकविशेषणं वाक्यम्"

अर्थात् जहां अव्यय, कारक और विशेषण सहित वाक्य का प्रयोग किया गया हो वह वाक्य है। इसमें विशेषण का सम्बन्ध अपने स्वतन्त्र प्रयोग के अतिरिक्त कारक और क्रिया के साथ भी माना जाएगा। इस पर अपना दृष्टिकोण देते हुए आचार्य पतंजलि ने कात्यायन के वाक्यलक्षण को अपूर्व कहा है–

"इदमद्यापूर्वं क्रियते वाक्यसंज्ञा समानवाक्याधिकारश्च"

इसी से कात्यायन का नाम वाक्यकार भी पड़ गया।

वाक्य का वैज्ञानिक विश्लेषण मीमांसादर्शन में भी मिलता है। इस कारण इस दर्शन को वाक्यशास्त्र भी कहा गया है। मीमांसा सूत्र 2.1.46 में वाक्य की परिभाषा इस प्रकार दी गई है–

"अर्थत्वादेकं वाक्यं साकांक्षं चेद् विभागे स्यात्।"

मीमांसादर्शन पदसमूह को वाक्य मानता है। इस सन्दर्भ में इस परिभाषा का अर्थ यह है कि यदि पदसमूह अलग-अलग रहने पर आकांक्षा से युक्त हो और इकट्ठा रहने पर एकार्थता का बोध करा रहा हो तो हम उसे वाक्य कहेंगे।

काव्यशास्त्र में भी पद समूह को वाक्य कहा गया है। साहित्यदर्पण के रचयिता आचार्य विश्वनाथ ने अपने ग्रन्थ में वाक्य की परिभाषा इस प्रकार दी है–

'वाक्यं स्याद् योग्यताकांक्षासत्तियुक्तः पदोच्चयः"

अर्थात् योग्यता, आकांक्षा और आसक्ति से युक्त पदों के समूह को वाक्य कहा गया है।

इन सब परिभाषाओं को देखते हुए यही कहा जा सकता है कि जहां वैयाकरणों की दृष्टि में वाक्य में क्रिया का महत्त्व सबसे अधिक है वहां मीमांसकों और काव्यशास्त्रियों की दृष्टि में पदों के समूह का महत्त्व है। इस सम्पूर्ण वाद-विवाद में वैयाकरणों में प्रचलित वाक्य की इस अतिसंक्षिप्त पर अत्यधिक अर्थगर्भित परिभाषा का वैज्ञाविक महत्त्व सबसे अधिक प्रतीत होता है। यह परिभाषा है–

'एकतिङ् वाक्यम्'

अर्थात् वाक्य वह है जिसमें कम से कम एक क्रिया का प्रयोग किया गया है। यह क्रिया साक्षात् प्रयुक्त भी हो सकती है और अन्तर्निहित भी हो सकती है। जैसे–

1. त्वं किं करोषि?

2. पठामि।

इन दोनों को स्वतन्त्र वाक्य कहा जाएगा क्योंकि जहां पहले वाक्य की जिज्ञासा का सम्बन्ध 'करना' क्रिया से है वहां दूसरे वाक्य में उत्तर का सम्बन्ध 'पढ़ना' क्रिया के साथ है। इसी प्रकार–

1. किं त्वं पठसि?

2. नहि।

इन दो वाक्यों में जिज्ञासा और उत्तर दोनों का सम्बन्ध 'पढ़ना' क्रिया के साथ है। अन्तर केवल इतना ही है कि जहां पहले वाक्य में 'पठामि' क्रिया स्पष्ट रूप से प्रयुक्त है वहां दूसरे वाक्य में वह अन्तर्निहित है, पर उसका प्रयोग नहीं है ऐसा नहीं कहा जा सकता। इन सभी तर्कों के आधार पर संस्कृत व्याकरण में 'एकतिङ् वाक्यम्' इस वाक्य परिभाषा को सर्वाधिक पूर्ण और वैज्ञानिक माना जाता है।

2. वाक्यरचना की मूलभूत आवश्यकताएँ

वाक्य की विभिन्न परिभाषाओं का उल्लेख करते हुए ऊपर साहित्यदर्पण के रचनाकार द्वारा दी गई परिभाषा का उल्लेख किया गया है–

"वाक्यं स्याद् योग्यताकांक्षासत्तियुक्तः पदोच्चयः"

अर्थात् पदों के उस समूह को वाक्य कहते हैं जिसमें पदों का उपस्थान आकांक्षा, योग्यता और आसत्ति के आधार पर किया गया है।

प्रश्न उठता है कि यह आकांक्षा, योग्यता और आसत्ति क्या होते हैं? इनको समझ लेना आवश्यक है। विश्वनाथ द्वारा दी गई वाक्य परिभाषा में योग्यता का उल्लेख सबसे पहले है अतः हम भी सबसे पहले योग्यता पर ही विचार करते हैं। योग्यता का शब्दिक अर्थ है सामर्थ्य होना। अर्थात् वाक्य वह होता है जिसमें अपना एक निश्चित अर्थ सम्प्रेषित करने की सामर्थ्य हो। इस सामर्थ्य अथवा योग्यता की व्याख्या दो प्रकार से हो सकती है। एक सामर्थ्य व्याकरण-जन्य शुद्धता के कारण आती है और दूसरी सामर्थ्य वाक्य में प्रयुक्त पदों के परस्पर सम्बन्ध से प्राप्त होने वाले अर्थ के कारण आती है। वाक्य में अर्थसम्प्रेषण की शक्ति उत्पन्न करने के लिए दोनों प्रकार के सामर्थ्य की एक साथ आवश्यकता होती है। मान लीजिए शब्दों का चयन तो अर्थ की दृष्टि से ठीक हो किन्तु व्याकरण की दृष्टि से उन पदों का उपस्थापन ठीक नहीं हो रहा हो तो हम कहेंगे कि इस वाक्य में योग्यता का अभाव है। जैसे–'अहं पुस्तकं पठति।' अब इस वाक्य में पुस्तक का पढ़ने के साथ सम्बन्ध जुड़ा ही हुआ है, पर अहम् के साथ पद् क्रिया में सम्बन्ध-तत्त्व 'ति' का प्रयोग ठीक नहीं है। अर्थात् अहम् और पठति में अर्थतत्त्वों का प्रयोग ठीक होने पर भी सम्बन्धतत्त्वों में परस्पर कोई मेल नहीं है। इसलिए व्याकरण की अशुद्धि के आधार पर इस वाक्य में योग्यता का अभाव माना जाएगा और भाषाविज्ञान इसे वाक्य नहीं मानेगा।

अब दूसरा पक्ष लें। मान लीजिए एक उदाहरण है–अग्निना वृक्षं सिंचति=आग से पेड़ को सींचता है। इस वाक्य में अर्थतत्त्वों और सम्बंन्ध तत्त्वों का प्रयोग ठीक प्रकार से किया गया है। अर्थात् व्याकरण की दृष्टि से यह वाक्य किसी भी रूप में गलत नहीं है। वाक्य में कर्ता (अलिखित), कर्म (वृक्ष), करण (अग्निना) और क्रिया (सिंचति) का पारस्परिक व्याकरणिक सम्बन्ध बिल्कुल ठीक है। पर भाषाविज्ञान में हम इसे भी वाक्य नहीं मान सकते क्योंकि आग का काम जलाना है सींचना नहीं। आग से किसी पेड़ की सिंचाई नहीं हो सकती। इसलिए इस वाक्य में अर्थ के सामर्थ्य का अभाव है। इस योग्यता के अभाव के कारण इसे भी हम वाक्य की कोटि से बाहर रखेंगे।

दूसरा स्थान आकांक्षा का है। जिस प्रकार वाक्य में योग्यता का होना बहुत जरूरी है वैसे ही उसमें आकांक्षा का होना बहुत आवश्यक है। आकांक्षा का शाब्दिक अर्थ है–इच्छा। वाक्य के सन्दर्भ में इसका सम्बन्ध पूर्णता के साथ है। अर्थात् वह वाक्य भाषाविज्ञान की दृष्टि से वाक्य नहीं माना जाएगा जिसमें अर्थ की दृष्टि से कुछ जानने की इच्छा शेष रह जाए अर्थात् उसमें अर्थ की अपूर्णता हो। यहां भी दोनों पक्ष हैं। पहला पक्ष यह है कि वाक्य व्याकरण की दृष्टि से ही पूर्ण न हो। जैसे–रामेण। इस के बाद एक सहज प्रश्न उठता है कि "किं कृतम्?" इस प्रश्न का उत्तर रामेण इस अधूरे वाक्य से नहीं मिलता। आकांक्षा बनी रहती है, इसलिए यह वाक्य नहीं है।

पर ऐसा भी हो सकता है कि वाक्य व्याकरणिक प्रक्रिया की दृष्टि से पूरा हो पर उसमें अर्थ की आकांक्षा फिर भी अधूरी रह जाए। इसे भी भाषाविज्ञान की दृष्टि से वाक्य की परिभाषा में नहीं रख सकते। जैसे–'अब तो वह भी उसके घर जाने लगा' यह वाक्य व्याकरण की दृष्टि से पूर्ण होने पर भी अधूरा वाक्य है क्योंकि इसमें एक प्रश्न बना रहता है–कौन? किसके? इस प्रश्न की आकांक्षा बनी रहती है अतः यह भी वाक्य नहीं है।

आकांक्षा के प्रश्न को लेकर एक पक्ष और भी है। कई बार आपाततः ऐसा लग सकता है कि व्याकरण की दृष्टि से पूरा होने पर भी अर्थ की दृष्टि से उसमें अपूर्णता अर्थात् आकांक्षा बनी हुई है। परन्तु वास्तव में उसमें आकांक्षा का अभाव नहीं होता और कई अन्य आधारों पर उसमें आकांक्षा की पूर्ति हुई मानी जा सकती है। ऐसे कुछ आधारों का संक्षेप में विवेचन किया जा रहा है।

सबसे पहली बात तो यही है कि जो वाक्य हमें अर्थ की दृष्टि से आकांक्षायुक्त अर्थात् अधूरा लग रहा हो, वह वास्तव में अधूरा न हो और अपने पिछले किसी वाक्य से जुड़ा होने के कारण पूरा हो। जैसे हम ऊपर लिखे दोनों वाक्यों की इस सन्दर्भ में परीक्षा करके देखें। दो वाक्य हैं–

1. अब तक मोहन राम के घर नहीं जाया करता था पर
2. अब तो वह भी उसके घर जाने लगा।

यदि हम दूसरे वाक्य को पहले वाक्य के संदर्भ से काट कर देखें तो दो आकांक्षाएं बनी रहती हैं- कौन? किसके? और इसी आधार पर हमने ऊपर इस वाक्य को आकांक्षा की दृष्टि से अधूरा वाक्य कहा था। पर यदि हम इसी वाक्य को उसके पहले वाक्य के संदर्भ में रखकर पढ़ें तो इन तीनों प्रश्न रूपी अकांक्षाओं की शांति हो जाती है।

योग्यता और आकांक्षा पर विचार करने के बाद आसत्ति का विचार कोई विशेष कठिनाई उत्पन्न नहीं करता। आसत्ति का अर्थ है निकटता अर्थात् समीपता। यहां निकटता का अर्थ यह नहीं है कि वाक्य में प्रयुक्त होने वाले पद आसपास होने चाहियें। वास्तव में वाक्य में आसत्ति का संबंध काल से है। अर्थात् वाक्य वह होता है जिसमें शब्दों का प्रयोग काल की दृष्टि के आसपास हो। काल की दृष्टि से भी निकटता का अर्थ यह नहीं है कि सभी शब्द एक साथ बोल दिए जाएं क्योंकि ध्वनि और अर्थ की दृष्टि से निकटता का अर्थ असम्भव है। वैसे भी जब हम कोई बात बहुत ही सोच विचार कर कहते हैं या भाषण देते हैं तो हमारे द्वारा प्रत्येक शब्द और पद को सोच विचार कर प्रयुक्त होने के कारण उसमें समय का थोड़ा सा अन्तराल आ ही जाता है। इस सम्पूर्ण पृष्ठभूमि में आसत्ति का सही अर्थ हमें समझ लेना चाहिये। आसत्ति के पीछे छिपी कालवाची निकटता का यह अर्थ है कि दो शब्दों अथवा पदों के उच्चारण में हम इतना समय न लगा दें कि पूर्व उच्चारित शब्द या पद की स्मृति और संस्कार ही समाप्त हो जाएं। उदाहरणतया, मान लीजिए किसी ने एक वाक्य का प्रयोग करना है- रामः भुक्त्वा कार्यालयं गमिष्यति। अब बोलने वाला यदि इस वाक्य में प्रयुक्त चार पदों में से प्रत्येक को एक एक दिन या एक-एक घंटे के अंतराल से बोलेगा तो हम उसे वाक्य नहीं मानेंगे। इसका कारण यह है कि चूंकि वाक्य का एकमात्र उद्देश्य भावसम्प्रेषण होता है इसलिए इतने अधिक अंतराल के बाद बोले जाने वाले शब्द अथवा पद उस भावसम्प्रेषण में सहायता नहीं करते अपितु बाधा ही पहुँचाते हैं।

प्राचीन भाषाविदों तथा सहित्याचार्यो ने वाक्य में योग्यता, आकांक्षा और आसत्ति को ही आवश्यक माना है, परन्तु आधुनिक काल के कुछ भाषा वैज्ञानिक इन तत्त्वों के अलावा सार्थकता और अन्विति नामक दो और तत्त्व भी मानते हैं। सार्थकता का आशय यह है कि वाक्य के शब्द सार्थक होने चाहिये। वैसे इस तत्त्व को अलग से मानने की कोई विशेष आवश्यकता नहीं है। इसके कई कारण है। पहला कारण यह है कि निरर्थक ध्वनियों को हम भाषा ही नहीं मानते यह हम भाषा की परिभाषा के समय कह आए हैं। दूसरी बात यह है कि वाक्य का अपना स्वरूप ही मूल रूप से अर्थ की नींव पर टिका है। वाक्य का सबसे महत्वपूर्ण एवं एकमात्र कार्य अर्थ का सम्प्रेषण करना है। इससे स्पष्ट है कि वाक्य का अर्थ के साथ संबंध आधारभूत है और उसका सार्थक होना स्वयंसिद्ध है। वस्तुतः सार्थकता उसकी मूलभूत आवश्यकता से भी बढ़ कर उसका स्वभाव है। इस स्वभाव को हम कैसे प्राप्त कर सकते हैं यही वाक्य के सम्बन्ध में उसकी मूलभूत आवश्यकता बनी रहती है जिसके लिए आकांक्षा, योग्यता और आसत्ति को माना गया है। एक बात और भी, सार्थकता वाले प्रश्न को योग्यता नामक तत्त्व में पर्याप्त व्यापक तरीके से और विविध आयामों से भीतर समाहित कर लिया जाता है इसलिए उसे अलग से मानने की कोई आवश्यकता नहीं रहती।

दूसरा तत्त्व अन्विति माना गया है। अन्विति का अर्थ है व्याकरणिक दृष्टि से एकरूपता यहां एकरूपता का अर्थ समानरूपता से भी है और व्याकरणिक शुद्धता से भी है। इस सारी बात का निहितार्थ यह है कि वचन, कारक, लिंग और पुरुष आदि की दृष्टि से वाक्य में सभी पदों की परस्पर अन्विति होनी चाहिये। जैसे सीता जा रहा है, राम पढ़ रही है, ये दोनों वाक्य गलत हैं क्योंकि इन दोनों में कर्त्ता और क्रिया के लिंग की अन्विति नहीं है। इसी प्रकार 'राम' और मोहन स्कूल जाता है', 'बच्चा रोते हैं' ये दोनों वाक्य गलत हैं क्योंकि इनमें कर्त्ता के वचन और क्रिया के वचन में परस्पर अन्विति नहीं है। इस तरह के अनेक अन्य उदाहरणों का संकलन किया जा सकता है पर अन्विति का निहितार्थ समझाने में ये उदाहरण पर्याप्त हैं। इनके आधार पर

यह स्पष्ट हो जाता है कि वाक्य रचना में अन्विति का कितना अधिक महत्व है। पर इसके साथ ही यह प्रश्न भी उठता है कि इतना अधिक महत्वपूर्ण होने पर भी अन्विति को, वाक्य रचना का मूलभूत आधार मानते हुए भी, क्या उसे पृथक् से गिनना भी आवश्यक है? वास्तव में योग्यता शब्द में ही (जो व्याकरण संबंधी और अर्थ संबंधी सामर्थ्य को अपने में समाहित कर लेता है) अन्विति को भी समाविष्ट मान सकते हैं। अन्विति का अर्थ, जैसे कि हम इसी अनुच्छेद के प्रारम्भ में बता आए हैं व्याकरणिक शुद्धता और समानरूपता से है और यह शुद्धता स्पष्ट रुप से वाक्य से सम्प्रेषित होने वाले अर्थ के साथ सम्बद्ध है। इस प्रकार अन्विति में मूलरूप से अर्थ की स्पष्टता की ओर ले जाने वाली व्याकरणिक शुद्धता से तात्पर्य है। योग्यता के अंतर्गत हम जिस सामर्थ्य की चर्चा कर आए हैं उसका संबंध भी इन्ही स्थितियों के साथ है। इसलिए हम अन्विति का समावेश योग्यता में ही कर सकते हैं, उसे पृथक् मानने की आवश्यकता नहीं है।

3. उद्देश्य और विधेय

आधुनिक वैयाकरणों और भाषा वैज्ञानिकों में वाक्य के दो अंगों के रूप में 'उद्देश्य' और 'विधेय' शब्दों का अत्यधिक महत्व है। वास्तव में वाक्य को एक परिपूर्ण इकाई मान लेने के बाद जब उसके विश्लेषण करने की समस्या आती है तो उसके लिए जितने भी प्रकार अपनाये जाते हैं, उद्देश्य और विधेय उसी का एक रूप हैं।

वैयाकरणों में वाक्य को दो खंडों में विभक्त करके देखने की परम्परा है। इन दो खंडों के नाम हैं–उद्देश्य और विधेय। जिस शब्द को हम 'उद्देश्य' कहकर लिखते हैं वह वास्तव में उद्देश होना चाहिये। प्रत्येक वाक्य में दो तत्त्व सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण होते हैं- कर्त्ता और क्रिया। कर्त्ता वह होता है जो पूरे वाक्य को विशिष्ट क्रियात्मक पूर्णता की ओर ले जाए। क्रिया वह होती है जो हो रही होती है या की जा रही होती है। भूत, भविष्य और वर्तमान के आधार पर उसके अनेक रूप हो सकते हैं। रामः गच्छति में रामः कर्त्ता है क्योंकि वह क्रिया को पूर्णता की ओर ले जा रहा है जबकि गच्छति क्रिया है जो जाने के रूप में हो रही है।

परन्तु वाक्य में केवल कर्त्ता और क्रिया रूप ही नहीं होते कई अन्य शब्द भी होते हैं। ऐसा माना गया है कि शेष सभी शब्द रूप प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से कर्त्ता और क्रिया के साथ जुड़े होते हैं। उनका पृथक् स्वतंत्र अस्तित्व नहीं होता। संस्कृत व्याकरण में ही एक तरह से यह स्थिति स्वीकार की गई है। वाक्य की परिभाषा पर विचार करते समय कहा गया है कि संस्कृत वैयाकरण वाक्य में क्रिया की उपस्थिति को सबसे अधिक और आधारभूत महत्त्व का मानते हैं। इसी प्रकार कारकों पर विमर्श करते समय संस्कृत वैयाकरणों के द्वारा कर्त्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, उपादान और अधिकरण इन छह कारकों को माना जाता है पर इनमें से कर्त्ता को सबसे अधिक महत्वपूर्ण माना गया है अर्थात् यद्यपि संस्कृत व्याकरणों में वाक्य को स्पष्ट रूप से दो भागों में विभक्त नहीं किया जाता तथापि उसमें कर्त्ता और क्रिया के सर्वाधिक महत्त्व को निश्चित रूप से स्वीकार किया गया है।

इस पृष्ठभूमि के साथ हम पुनः उद्देश्य विधेय की चर्चा पर वापिस लौटते हैं। यद्यपि वाक्य में कर्त्ता और क्रिया का स्थान सबसे अधिक महत्वपूर्ण होता है तथापि वाक्य में कर्त्ता और क्रिया ही नहीं होते अन्य भी अनेक पद होते हैं। वैयाकरणों का ऐसा मानना है कि शेष सभी पदों का संबंध या तो कर्त्ता के साथ होता है या फिर क्रिया के साथ होता है। जैसे - रामः गच्छति में रामः कर्त्ता है और गच्छति क्रिया है। 'मम भ्राता रामः गृहं गच्छति' में 'मम भ्राता' रामः के साथ जुड़ा है। वाक्य में रामः महत्त्वपूर्ण है और मम भ्राता उसके साथ सम्बद्ध है। दूसरी ओर 'गृहं गच्छति' में 'गच्छति' महत्वपूर्ण हैं गृहं उसके साथ सम्बद्ध है। इनमें से पहले खण्ड को उद्देश अथवा उद्देश्य और दूसरे खण्ड को विधेय कहते हैं। अंग्रेजी व्याकरण में उद्देश्य को Subject और विधेय को Predicate कहा जाता है।

उद्देश्य और विधेय के आधार पर यद्यपि भाषा के विश्लेषण की सार्थक चर्चा हो सकती है पर इसमें कुछ समस्याएं भी हैं। पहली समस्या यह है कि इस ढांचे के आधार पर विश्व की सभी भाषाओं का विवेचन नहीं हो सकता। केवल कुछ ही भाषाएं है जिनमें कारक का प्रयोग वाक्य के मूल आधार के रूप में किया जाता है, वहीं इस वाक्य विवेचन का आश्रय लिया जा सकता है। दूसरी समस्या यह है कि उन भाषाओं में भी जहां उद्देश्य-विधेय के आधार पर विश्लेषण सम्भव है, भाषा के तेजी से परिवर्तित होते हुए रूपों को देखकर इस ढांचे के उपयोग की परिधि सीमित होती जा रही है। इसलिए अब कुछ विद्वान वाक्य को उद्देश्य और विधेय में विभक्त करने के बजाय अग्र और पश्च में विभक्त करना चाहते हैं। जैसे-हिन्दी के "मैंने सुबह ही कहा था मैं आज शाम नहीं आऊंगा" इस वाक्य में 'मैंने सुबह ही कहा था' को अग्र और 'मैं आज शाम को नहीं आऊंगा'

को पश्च मान लिया जाता है। परन्तु थोड़ा अधिक गम्भीरता से विचार किया जाएं तो 'अग्र' और पश्च' दोनों ही वाक्य रूपों को उद्देश्य और विधेय के उपविभाजनों में रखकर देख सकते हैं।

4. वाक्य के प्रकार

वाक्य के प्रकार कितने हो सकते हैं? इस प्रश्न का उत्तर सीधे सीधे भाषा के आकृतिमूलक वर्गीकरण के साथ सम्बद्ध है जिसका विवेचन हम अगले एक पाठ में विस्तार से करेंगे। भाषा विज्ञान में भाषा के आकृतिमूलक वर्गीकरण पर पर्याप्त समय से विचार विमर्श चल रहा है। जब प्रारम्भ में भाषा के आकृतिमूलक वर्गीकरण पर विमर्श प्रारम्भ हुआ तो उस समय चार प्रकार की भाषाएं मानी जाती थीं- समासप्रधान, व्यासप्रधान, प्रत्ययप्रधान और विभक्ति प्रधान। इन चार भाषा-आकृतियों के आधार पर इन्हीं नामों को रखते हुए चार प्रकार के वाक्य भी मान लिए गए। आगे चलकर भाषा के आकृतिमूलक विवेचन का आधार बदल दिया गया और योगात्मक अयोगात्मक आकृति को भाषाई वर्गीकरण का आधार माना जाने लगा और इसी रचना पर वाक्य भी दो प्रकार के मान लिए गए= योगात्मक और अयोगात्मक, जिसमें योगात्मक के प्रश्लिष्ट, श्लिष्ट और अश्लिष्ट इस प्रकार के उपभेद भी माने जाने लगे। पर वाक्य के इन रूपों के अतिरिक्त कुछ और प्रकार भी हमारे सामने आते हैं जिन्हें उपर्युक्त श्रेणियों में प्रत्यक्ष रूप से अन्तर्मुक्त नहीं किया जा सकता। जैसे उपवाक्य, मिश्रवाक्य, संयुक्तवाक्य, क्रियायुक्त वाक्य, क्रियाविहीन वाक्य इत्यादि। अब क्रमशः इन सभी वाक्य रूपों का संक्षिप्त विवेचन किया जायेगा।

1. **समासप्रधान वाक्य**- संस्कृत व्याकरण में 'समास' का अर्थ इस प्रकार किया गया है- 'समसनं समासः' अर्थात् जहां बहुत सी बातों को एक परिधि में समाहित या संक्षिप्त कर दिया जाए उसे समास कहते हैं। भाषा विज्ञान और संस्कृत व्याकरण में समासप्रधानता का विश्लेषण अलग अलग प्रकार से हो सकता है। भाषाविज्ञान के अनुसार समासप्रधान वाक्य वे होते हैं जिनमें कर्त्ता, कर्म क्रिया आदि सभी पद एक ही पद में इस प्रकार घुलमिल जाएं कि उनका पृथक् अस्तित्व समाप्त हो जाए और उनका अलग-अलग विश्लेषण करना कठिन हो जाए। जैसे अमेरिका के आदिवासियों की किसी भाषा का एक पद है- 'अउलिसरिअरतौरसुअरपोक्'। इसमें चार पद सम्मलित हैं और इस प्रकार समस्त हो गए हैं कि उनका पृथक् विश्लेषण सम्भव नहीं है। ऐसे वाक्यों को समास प्रधान कहते हैं।

परन्तु संस्कृत व्याकरण इस समस्या का विश्लेषण दूसरे प्रकार से करता है। संस्कृत का परवर्ती काल का साहित्य, विशेष रूप से गद्य साहित्य समस्त पदावली से इतना अधिक प्रभावित है कि उसे समासप्रधान मानना स्वाभाविक प्रतीत होता है, इस आधार पर समासप्रधान वाक्य उसे माना जाएगा जिसमें समस्त पदावली का आश्रय लेते हुए एक ही समान क्रिया के आधार पर लम्बे लम्बे वाक्य का प्रयोग किया जाए। संस्कृत साहित्य में बाणभट्ट की 'कादम्बरी' समासप्रधान वाक्य रचना का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण मानी जा सकती हैं।

2. **व्यासप्रधान वाक्य**- जिस प्रकार हमने आधुनिक भाषाविज्ञान और संस्कृत व्याकरण के आधार पर समासप्रधान वाक्य का द्विविध विवेचन किया है, ठीक उसी प्रकार से हम व्यासप्रधान वाक्य का विश्लेषण भी कर सकते हैं। आधुनिक भाषाविज्ञान के अनुसार व्यासप्रधान वाक्य वह होता है जिसमें पदों का एक दूसरे में समावेश होकर एक ही पद बनता हुआ दृष्टिगोचर न हो अपितु प्रत्येक पद अपना अलग-अलग अस्तित्व बनाए रखें। ऐसे वाक्यों में पद का स्थान परिवर्तन करने से अर्थ में परिवर्तन आ जाता है। चीनी भाषा को इसका सर्वश्रेष्ठ उदाहरण माना जाता है। जैसे - चीनी भाषा में 'नी ते न्गो' में प्रत्येक पद अपने आप में अलग और स्वतंत्र है और वाक्य में उसका अर्थ उसकी स्थिति पर निर्भर करता है परन्तु यदि इसी वाक्य को पलटकर 'न्गो नी ते' कर दिया जाए तो पूरे वाक्य का अर्थ बदल जाएगा। आधुनिक भाषाविज्ञान में हम उसे व्यासप्रधान काव्यरचना मानेंगे।

परन्तु संस्कृत व्याकरण के परिप्रेक्ष्य में हम इसका विश्लेषण एक दूसरी प्रकार से भी कर सकते हैं। इसके लिए हम समासप्रधान वाक्य के विश्लेषण को आधार बना सकते हैं। जिस वाक्य में समस्त पदावली के प्रयोग के बजाए प्रत्येक पद का पृथक् असमस्त प्रयोग हो उसे व्यासप्रधान कहा जा सकता है। एक दृष्टि में हम इसे सरल और अधिक फैला हुआ वाक्य कह सकते हैं। यदि 'राजपुरुषः आगच्छति' यह समासप्रधान वाक्य है तो 'राज्ञः पुरुषः आगच्छति' यह उसकी तुलना में व्यासप्रधान वाक्य है।

3. **प्रत्यय प्रधान वाक्यः**- प्रत्यय प्रधान वाक्य वे होते हैं जहां वाक्य का कोई भी पद या अधिकांश पद बिना प्रत्ययों की सहायता से अपना अर्थ बताने में अक्षम रहें। यदि हम अंग्रेजी के एक वाक्य को आधार बनाकर इसे समझने का प्रयास करें तो अधिक सुविधा रहेगी। अंग्रेजी में एक वाक्य हैं- John is a good boy इस वाक्य में पांच पद हैं और कोई भी पद प्रत्यययुक्त नहीं है। इसी प्रकार इसका हिन्दी रूपांतरण है- राम एक अच्छा लड़का है। इसमें भी पांच पद हैं और कोई भी पद प्रत्यययुक्त

नहीं है। इसके विपरीत इस वाक्य का संस्कृत रूपांतरण इस प्रकार होगा- रामः श्रेष्ठः बालकः अस्ति। इसमें चार पद हैं और कोई भी पद प्रत्ययविहीन नहीं हैं।

इस संबंध में प्रश्न उठता है- क्या संस्कृत का जो वाक्य प्रत्यययुक्त पदों से युक्त हैं उसी के अंग्रेजी और हिन्दी रूपों को हम प्रत्ययविहीन पदों वाले वाक्य मानेंगे? संस्कृत व्याकरण में इसका उत्तर नकारात्मक है। क्योंकि संस्कृत व्याकरण प्रत्ययविहीन पद की कल्पना ही नहीं करता। पदविज्ञान में पद की परिभाषा का विवेचन करते हुए हम बता आए हैं कि संस्कृत व्याकरण में पद वही होता है जिसमें सुबन्त और तिङन्त प्रत्ययों का प्रयोग किया गया हो और जिन पदों में प्रत्ययों का प्रयोग दृष्टिगोचर नहीं होता वहां उनका अभाव नहीं अपितु लोप मान लिया जायेगा। अभाव का अर्थ है न होना जबकि लोप का अर्थ है प्रयोग करके किसी विशेष परिस्थितिवश लुप्त हो जाना। लोप की स्थिति में वस्तु का अस्तित्व कहीं न कहीं रहता है फिर चाहे वह अवधारणा की अवस्था में ही क्यों न हो। इसलिए भाषाविज्ञान ऊपर बताए गए अंग्रेजी और हिन्दी के जिन वाक्यों को प्रत्ययविहीन पदों वाला वाक्य मानेगा वहां संस्कृत व्याकरण में उन्हें लुप्त प्रत्यय वाले पदों का समुच्चय वाक्य माना जाएगा।

इसलिए भाषा विज्ञान में प्रत्यय प्रधान वाक्य उन्हें माना जाता है जिनमें प्रत्यय जोड़कर शब्दों और वाक्यों की रचना होती है। इन वाक्यों में शब्दों और धातुओं का स्वतंत्र अस्तित्व रखते हुए भी वाक्य रचना प्रत्ययों के संयोग के बिना नहीं होती। इस संबंध में तुर्की सदृश भाषा का उदाहरण देते हुए कहा जाता है कि इसमें 'एव' का अर्थ है 'घर'। इसमें प्रत्यय जोड़ने पर-

एवलेर= अनेक घर

एवलेरिम= मेरे घर

इस प्रकार वाक्य में परिवर्तन कर दिया जाता है।

4. विभक्तिप्रधान वाक्य- संस्कृत के संदर्भ में समझने पर हमें विभक्तिप्रधान वाक्य का अर्थ समझने में सर्वाधिक सरलता रहेगी। संस्कृत व्याकरण में प्रत्यय दो प्रकार के होते हैं- सुबंत प्रत्यय जिनकी सहायता से शब्द रूपों की रचना होती है और तिङ् प्रत्यय जिनकी सहायता से धातुरूपों की रचना होती है। संस्कृत व्याकरण में इन दोनों प्रकार के प्रत्ययों को विभक्ति प्रत्यय कहते हैं क्योंकि वे वाक्य में कारक रूपों को क्रिया के संदर्भ में विभक्त करने का आधार बनते हैं। कर्ता, कर्म कारक आदि के विभक्ति प्रत्ययों का विभिन्न कालों, भावों और पुरुषों के संदर्भ में प्रयुक्त होने वाले विभक्ति प्रत्ययों के साथ सीधा संबंध होता है। 'रामः पठति' इसलिए शुद्ध वाक्य है क्योंकि राम के साथ प्रयुक्त विभक्ति प्रत्यय 'सु' का 'पठ्' के साथ प्रयुक्त विभक्ति प्रत्यय ति के साथ सीधा संबंध है। इसी प्रकार 'रामः पठामि' अशुद्ध वाक्य है क्योंकि इन दोनों पदों में प्रयुक्त विभक्ति प्रत्ययों में परस्पर कोई संबंध नहीं है। इस प्रकार के वाक्यों को विभक्ति प्रधान वाक्य कह सकते हैं और इन वाक्यों को प्रयुक्त करने वाली भाषाएं विभक्तिप्रधान भाषाएं कही जाती हैं। भारोपीय परिवार की भाषाएं, विशेषकर इस परिवार की प्राचीन भाषाएं इस कोटि की भाषाएं मानी गई हैं।

5. अयोगात्मक वाक्य- व्यासप्रधान वाक्य को समझने के बाद अयोगात्मक वाक्य समझना कठिन नहीं है। वास्तव में आधुनिक भाषा विज्ञान में व्यासप्रधान वाक्य इस प्राचीन नाम को ही अब अयोगात्मक वाक्य कहा जाता है। पद विज्ञान पर विचार करते समय कहा गया है कि पदरचना में दो तत्वों का महत्वपूर्ण स्थान होता है : अर्थ तत्त्व और संबंध तत्त्व। योगात्मक और अयोगात्मक भाषाओं में मूलभूत अन्तर यही होता है कि जिन भाषाओं में पदरचना अर्थतत्त्व और सम्बन्धतत्त्व के योग से होती है इन्हें योगात्मक भाषाएं कहते हैं। विश्व की प्रायः सभी प्रमुख भाषाएं योगात्मक भाषाएं हैं। इसके विपरीत जिन भाषाओं में पदरचना अर्थतत्त्व और सम्बन्धतत्त्व के योग पर निर्भर नहीं करती वे अयोगात्मक भाषाएं होती हैं। अयोगात्मक भाषाओं में जिस तरह की वाक्य रचना होती है उसे अयोगात्मक वाक्य कहते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि यदि अयोगात्मक भाषाओं में अर्थतत्त्व और सम्बन्धतत्त्व के योग का कोई अवकाश नहीं है तो अयोगात्मक वाक्यों में भी विभिन्न पदों का पारस्परिक वाक्यात्मक संबंध संबंधतत्वों पर आधारित न होकर वाक्य में पद की स्थिति में निर्भर करता है। अर्थात् यदि वाक्य का प्रमुख उद्देश्य अर्थ का एक इकाई के रुप में सम्प्रेषण करना है तो वाक्य से उसके अर्थ की प्राप्ति इस पर निर्भर करती है कि उसमें कौन सा पद किस स्थान पर है। यदि एक ही वाक्य में चार पद एक विशेष क्रम मे पड़े हैं तो उनका अर्थ एक विशेष प्रकार का होगा, परन्तु यदि वे चार पद किसी दूसरे क्रम में रख दिये ज़ाते हैं तो अर्थ में भी परिवर्तन आ जायेगा। ऊपर व्यासप्रधान वाक्य पर विवेचन करते समय हमने चीनी भाषा के एक वाक्य नी ते न्गो का उदाहरण देखा है। अयोगात्मक वाक्य का रूप समझने के लिए उस उदाहरण को एक आदर्श मान कर यहां भी लिया जा सकता है।

6. योगात्मक वाक्य- अयोगात्मक वाक्य से एकदम विपरीत योगात्मक वाक्य है। योगात्मक वाक्य उन भाषाओं में होते हैं जो भाषाएं योगात्मक कहलाती हैं। योगात्मक भाषाएं वे होती है जिनमें पदरचना और वाक्य में पदों का पारस्परिक संबंध अर्थतत्त्व और संबंध तत्त्व के संयोग पर निर्भर करता है। पद विज्ञान और अब तक के वाक्यविज्ञान के पाठ में इस विषय पर पर्याप्त और कई आयामों से चर्चा हो चुकी है। अभी आरम्भ में समास प्रधान, प्रत्यय प्रधान और विभक्ति प्रधान वाक्यों की चर्चा की गई है। ये तीनों योगात्मक वाक्य के ही अलग अलग प्रकार हैं। इसलिए आधुनिक भाषाविज्ञान की स्थापना है कि वाक्य को समासप्रधान, प्रत्यय प्रधान, विभक्ति प्रधान और व्यासप्रधान इन चार भागों में बांटने के स्थान पर पहले तीन प्रकारों को योगात्मक और अंतिम को अयोगात्मक कहना अधिक वैज्ञानिक है। उपर्युक्त तीनों प्रकार के वाक्यों के जो उदाहरण दिए गए हैं उन्हें ही योगात्मक के उदाहरण भी माना जा सकता है।

7. उपवाक्य- प्राय: कई बार वाक्य छोटे न होकर पर्याप्त लम्बे होते हैं। इन लम्बे वाक्यों की एक विशेषता यह होती है कि ये एक अकेला वाक्य न होकर कई वाक्यों के समूह होते हैं। इन समूहवाक्यों में कुछ वाक्य प्रधान वाक्य मान लिए जाते हैं और कुछ वाक्य गौण वाक्य मान लिये जाते हैं। इन्हीं गौण वाक्यों को उपवाक्य कहते हैं। इनमें अन्तर यह होता है कि वाक्यों के समूह में जो वाक्य अपने आप में स्वतंत्र होता है, किसी पर आश्रित नहीं होता, उसे प्रधान वाक्य कहते हैं। और जो वाक्य उस प्रधान वाक्य पर आश्रित होते हैं उन्हें उपवाक्य कहते हैं जैसे - "विश्रुत ने कहा कि जो भी मेरे पीछे आएगा, वह यमलोक जा सकता है क्योंकि वह मार दिया जाएगा।" दशकुमार चरित के इस लम्बे वाक्य में 'जो भी मेरे पीछे आएगा' यह प्रधान वाक्य है जबकि 'वह यमलोक जा सकता है', और "क्योंकि वह मार दिया जायेगा' ये दोनों उपवाक्य हैं। इसका कारण यह है कि यदि प्रधान वाक्य को हटा लिया जाए तो ये दोनों वाक्य अपना स्वतंत्र अस्तित्व खो बैठते हैं और केवल अपने ही आधार पर अपना अर्थ सम्प्रेषित करने में असमर्थ रहते हैं।

8. मिश्र वाक्य- जहां एक लम्बे वाक्य में अनेक वाक्य हों और सभी के सभी प्रधान हों या सभी के सभी उपवाक्य हों तब उसे मिश्र वाक्य कहते हैं। ऐसे वाक्यांशों को परस्पर एक दूसरे के साथ जोड़ने के लिए संगमशब्दों की आवश्यकता पड़ती है जैसे - 'मोहन ने कहा कि वह आज दिल्ली से चला जायेगा और वह कल सुबह बनारस पहुंच जाएगा तथा शुक्रवार को वह लंदन जाने के लिए रात्रि को हवाई जहाज पकड़ेगा'। इस लम्बे वाक्य में तीन वाक्य हैं-

मोहन ने कहा- (1) वह आज दिल्ली से चला जायेगा,

(2) वह कल सुबह बनारस पहुंच जाएगा,

(3) शुक्रवार को वह लंदन जाने के लिए रात्रि को हवाई जहाज पकड़ेगा।

ये तीनों वाक्य प्रधान वाक्य हैं। तीनों अपने अलग-अलग अस्तित्व में भी अपना अर्थसम्प्रेषण पूरी तौर पर कर रहे हैं और इनको "और" "तथा" इन दो संगमशब्दों की सहायता से जोड़ा गया है। इसलिए यह एक मिश्र वाक्य है।

9. संयुक्तवाक्य- मिश्र वाक्य को ही भाषाविज्ञान में संयुक्तवाक्य भी कहा जाता है। पर फिर भी कुछ भाषावैज्ञानिक इन दोनों में अंतर करना चाहते हैं। इस अंतर के अनुसार जिस वाक्य में एक प्रधान वाक्य हो और शेष उपवाक्य हों उसे मिश्र वाक्य कहते हैं। पर इस अन्तर को शास्त्रीय खींचातनी के अतिरिक्त और कुछ नहीं कहा जा सकता।

आचार्य विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण में एक विधा महाकाव्य के नाम से मानी है। इनके अनुसार महाकाव्य वह होता है जिसमें अनेक वाक्यों का समुच्चय हो। वे कहते हैं - "वाक्योच्चयोमहावाक्यम्", विश्वनाथ ने साहित्य के अर्थ में महावाक्य का प्रयोग किया है।

एम.ए. (उत्तरार्द्ध) **संस्कृत** **प्रश्न-पत्र-9**

छात्र-उत्तर-पत्र 1 **पाठ 1**

प्राप्तांक -------------%

अनुक्रमांक------------

प्राध्यापाक के हस्ताक्षर ------------

उत्तर-पत्र पूरा हो जाने पर निम्नलिखित पते पर लौटा दें:-

पत्राचार पाठ्यक्रम एवं अनुवर्ती शिक्षा विद्यालय,
दिल्ली विश्वविद्यालय,
5, कैवेलरी लाइन्स,
दिल्ली-110007

नाम-------------------------------

पता-------------------------------

पिन कोड---------------------------

शिक्षा-सत्र 2008-09

1. भाषा की सामान्य परिभाषा बताते हुए उनकी भाषा विज्ञान सम्मत परिभाषा पर विचार कीजिए।
2. भाषा की परिभाषा बताते हुए यह बताइये कि उसका गठन किस प्रकार होता है?
3. भाषा की परिभाषा का संक्षिप्त विवेचन करते हुए उसकी विशेषताओं का विवेचन करिये।
4. भाषा और बोली में अंतर समझाइए।
5. भाषा और बोली में अंतर समझाते हुए भाषा की सामान्य विशेषताओं का विश्लेषण कीजिए।
6. भाषा के कितने रूप संभव हैं टिप्पणी कीजिए।

एम.ए. (उत्तरार्द्ध) | संस्कृत | प्रश्न-पत्र-9

छात्र-उत्तर-पत्र 2 | पाठ 2

प्राप्तांक -------------%

अनुक्रमांक------------

प्राध्यापाक के हस्ताक्षर ------------

उत्तर-पत्र पूरा हो जाने पर निम्नलिखित पते पर लौटा दें:-

पत्राचार पाठ्यक्रम एवं अनुवर्ती शिक्षा विद्यालय,
दिल्ली विश्वविद्यालय,
5, कैवेलरी लाइन्स,
दिल्ली-110007

नाम--------------------------------

पता--------------------------------

पिन कोड---------------------------

शिक्षा-सत्र 2008-09

1. भाषा विज्ञान के नामकरण पर प्रकाश डालते हुए उसका व्याकरण के साथ क्या संबध है इसका विवेचन कीजिए।
2. भाषा विज्ञान और व्याकरण पर एक तुलनात्मक टिप्पणी लिखिए।
3. भाषाविज्ञान के अन्तर्गत जिन क्षेत्रों का अध्ययन होता है उनकी ओर संकेत करते हुए इसकी अध्ययन प्रणालियों का विवेचन कीजिए।
4. भाषाविज्ञान में भाषा का अध्ययन किन किन प्रणालियों के आधार पर होता है? विस्तृत विवेचन कीजिए।

एम.ए. (उत्तरार्द्ध) | संस्कृत | प्रश्न-पत्र-9

छात्र-उत्तर-पत्र 3 | पाठ 3

प्राप्तांक -------------%

अनुक्रमांक------------

प्राध्यापाक के हस्ताक्षर ------------

उत्तर-पत्र पूरा हो जाने पर निम्नलिखित पते पर लौटा दें:–

पत्राचार पाठ्यक्रम एवं अनुवर्ती शिक्षा विद्यालय,
दिल्ली विश्वविद्यालय,
5, कैवेलरी लाइन्स,
दिल्ली-110007

नाम------------------------------

पता------------------------------

पिन कोड--------------------------

शिक्षा-सत्र 2008-09

1. भाषा की उत्पति के विभिन्न सिद्धांतों का परिचय देते हुए बताइये के इनमें से कौन सा सिद्धांत इस समस्या के हल के लिए सबसे अधिक उपयोगी है।
2. "भाषा परिवर्तनशील है" इसका तात्पर्य स्पष्ट करते हुए उसके कारणों का विवेचन कीजिए।

एम.ए. (उत्तरार्द्ध) | संस्कृत | प्रश्न-पत्र-9
छात्र-उत्तर-पत्र 4 | पाठ 4

प्राप्तांक -------------%

अनुक्रमांक------------

प्राध्यापक के हस्ताक्षर ------------

उत्तर-पत्र पूरा हो जाने पर निम्नलिखित पते पर लौटा दें:–

पत्राचार पाठ्यक्रम एवं अनुवर्ती शिक्षा विद्यालय,
दिल्ली विश्वविद्यालय,
5, कैवेलरी लाइन्स,
दिल्ली-110007

नाम------------------------------

पता------------------------------

पिन कोड------------------------

शिक्षा-सत्र 2008-09

निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणियां लिखिए-

1. स्वर
2. व्यंजन
3. स्वरों का वर्गीकरण
4. अघोष-सघोष
5. अल्पप्राण-महाप्राण
6. विवृत-संवृत
7. नासिका वर्ण (अनुनासिक)
8. उच्चारण स्थान
9. प्रयत्न
10. मात्रा
11. उच्चारणकाल
12. बलाघात
13. सुर, सुरलहर
14. संगम

एम.ए. (उत्तरार्द्ध) | संस्कृत | प्रश्न-पत्र-9

छात्र-उत्तर-पत्र 5 | पाठ 5

प्राप्तांक -------------%

अनुक्रमांक------------

प्राध्यापक के हस्ताक्षर ------------

उत्तर-पत्र पूरा हो जाने पर निम्नलिखित पते पर लौटा दें:-

पत्राचार पाठ्यक्रम एवं अनुवर्ती शिक्षा विद्यालय,
दिल्ली विश्वविद्यालय,
5, कैवेलरी लाइन्स,
दिल्ली-110007

नाम--------------------------------

पता--------------------------------

पिन कोड--------------------------

शिक्षा-सत्र 2008-09

1. ध्वनि परिवर्तन क्या होता है? उसके प्रमुख कारणों पर सोदाहरण विवेचन करिये।
2. 'सादृश्य' और 'मिथ्यासादृश्य' में क्या अंतर है इस पर एक टिप्पणी दीजिए।
3. 'सादृश्य' पर एक संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये।

एम.ए. (उत्तरार्द्ध)

संस्कृत

छात्र-उत्तर-पत्र 6

प्रश्न-पत्र-9

पाठ 6

प्राप्तांक -------------%

प्राध्यापक के हस्ताक्षर ------------

अनुक्रमांक------------

उत्तर-पत्र पूरा हो जाने पर निम्नलिखित पते पर लौटा दें:-

पत्राचार पाठ्यक्रम एवं अनुवर्ती शिक्षा विद्यालय,
दिल्ली विश्वविद्यालय,
5, कैवेलरी लाइन्स,
दिल्ली-110007

नाम-------------------------------

पता-------------------------------

पिन कोड--------------------------

शिक्षा-सत्र 2008-09

1. ध्वनिप्रवृत्ति से आप क्या तात्पर्य समझते हैं। कुछ प्रमुख ध्वनिप्रवृत्तियों का सोदाहरण विवेचन करिये। (नोट- इस प्रश्न के उत्तर में अपश्रुति को छोड़ा जा सकता है।)
2. निम्नलिखित ध्वनि प्रवृत्तियों पर टिप्पणी लिखिए:
आदिनिहित, स्वरभक्ति, समाक्षरलोप, विपर्यय, अनुनासिकीकरण।
3. अपश्रुति पर एक विवेचनात्मक टिप्पणी लिखिये।
4. अपश्रुति की सामान्य विशेषताओं का विवेचन करते हुए भारोपीय और संस्कृत अपश्रुति में अंतर बताइये।

एम.ए. (उत्तरार्द्ध) | **संस्कृत** | **प्रश्न-पत्र-9**

छात्र-उत्तर-पत्र 7 | **पाठ 7**

प्राप्तांक -------------%

अनुक्रमांक------------

प्राध्यापक के हस्ताक्षर ------------

उत्तर-पत्र पूरा हो जाने पर निम्नलिखित पते पर लौटा दें:-

पत्राचार पाठ्यक्रम एवं अनुवर्ती शिक्षा विद्यालय,
दिल्ली विश्वविद्यालय,
5, कैवेंलरी लाइन्स,
दिल्ली-110007

नाम------------------------------

पता------------------------------

पिन कोड--------------------------

शिक्षा-सत्र 2008-09

1. ध्वनिनियम से आप क्या तात्पर्य समझते हैं? ध्वनिनियम की परिभाषा देते हुए ध्वनि प्रवृत्ति से उसका अंतर समझाइये।
2. ध्वनिनियम और ध्वनिप्रवृत्ति में अंतर बताते हुए ग्रिमनियम पर टिप्पणी कीजिए।
3. ग्रिमनियम पर विवेचनात्मक निबंध लिखिए।
4. ग्रिमनियम का विवेचन करते हुए बताइये कि ग्रासमैन और बर्नर ने उस पर क्या संशोधन किए।
5. संक्षिप्त टिप्पणियां लिखिए:-
   1. ग्रिमनियम
   2. ग्रासमैननियम
   3. बर्नरनियम
   4. तालव्यनियम

एम.ए. (उत्तरार्द्ध) | **संस्कृत** | **प्रश्न-पत्र-9**

छात्र-उत्तर-पत्र 8 | **पाठ 8**

प्राप्तांक -------------%

अनुक्रमांक------------

प्राध्यापाक के हस्ताक्षर -----------

उत्तर-पत्र पूरा हो जाने पर निम्नलिखित पते पर लौटा दें:-

पत्राचार पाठ्यक्रम एवं अनुवर्ती शिक्षा विद्यालय,
दिल्ली विश्वविद्यालय,
5, कैवेलरी लाइन्स,
दिल्ली-110007

नाम------------------------------

पता------------------------------

पिन कोड--------------------------

शिक्षा-सत्र 2008-09

1. अर्थपरिवर्तन के प्रमुख कारणों पर प्रकाश डालिये।
2. अर्थपरिवर्तन की मुख्य दिशाएं कौन सी हैं? सोदाहरण विवेचन कीजिए।
3. अर्थ की परिभाषा देते हुए शब्दार्थ सम्बन्धों पर एक लघुनिबंध लिखिए।
4. संक्षिप्त टिप्पणियां लिखिए:-
   1. भावसाहचर्य,
   2. अर्थापकर्ष,
   3. अर्थोत्कर्ष,
   4. अर्थविस्तार,
   5. अर्थ संकोच,
   6. अर्थादेश।

एम.ए. (उत्तरार्द्ध) | संस्कृत | प्रश्न-पत्र-9

छात्र-उत्तर-पत्र 9 | पाठ 9

प्राप्तांक -------------%

अनुक्रमांक------------

प्राध्यापाक के हस्ताक्षर ------------

उत्तर-पत्र पूरा हो जाने पर निम्नलिखित पते पर लौटा दें:-

पत्राचार पाठ्यक्रम एवं अनुवर्ती शिक्षा विद्यालय,
दिल्ली विश्वविद्यालय,
5, कैवेलरी लाइन्स,
दिल्ली-110007

नाम--------------------------------

पता--------------------------------

पिन कोड--------------------------

शिक्षा-सत्र 2008-09

---

1. वाक्य की परिभाषा दीजिए।
2. वाक्य कितने प्रकार का होता है, सोदाहरण विवेचन कीजिए।
3. वाक्य का स्वरुप बनाने में किन मूलभूत तत्त्वों की आवश्यकता होती है?
4. वाक्य की परिभाषा देते हुए उसके उद्देश्य विधेय खंडों पर प्रकाश डालिए।
5. वाक्य की परिभाषा बताते हुए उसके विभिन्न प्रकारों का सोदाहरण विवेचन कीजिए।
6. टिप्पणियां दें:-

(1). उद्देश्य-विधेय, (2). योगात्मक वाक्य,
(3). अयोगात्मक वाक्य, (4). समास प्रधान वाक्य,
(5). व्यास प्रधान वाक्य, (6). प्रत्यय प्रधान वाक्य,
(7). विभक्ति प्रधान वाक्य, (8). उपवाक्य,
(9). मिश्र वाक्य, (10). संयुक्त वाक्य,